फागुन के दिन चार

लेखक
पाण्डेय बेचन शर्मा, उग्र

दिल्ली
रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स

स्वनामधन्य श्री जैनेन्द्रकुमार ने जब मुझसे यह कहा
कि 'तुम हिल गये' तब मुझे प्रसन्नता ही हुई। कड़े रस्से
पर करिश्मा दिखाने वाले बाजीगर के सामने
बैलेन्स बिगाड़ने पर तत्पर यदि 'बफ़ून' हो तो
शायद ही बिना हिले बैलेन्स बनाये रखा
जा सके। क्योंकि साधारण आदमी की
नज़र बफ़ून अनायास ही अपनी तरफ़
आकर्षित कर लेता है। बला से
अन्त में बफ़ून बफ़ून ही विवे-
कियों की नज़र में रह
जाय। जैनेन्द्र जी के
कथन में ख़ुश होने की
बात यह है कि
वह 'उग्र' को
हिलने देना
नहीं चाहते।

'उग्र'

NPandey 20/2/79

मुखड़ा

'फागुन के दिन चार' में तीस-पैंतीस बरस पहले की फ़िल्मी दुनिया की एक खेद-जनक कहानी है—लेकिन इस कहानी का सार आप बम्बई के विख्यात इंगलिश साप्ताहिक 'ब्लिट्ज़' के गत कल (१९-१२-५९) के अंक के बाइसवें पन्ने पर पढ़ सकते हैं। यानी ? यानी पिछले तीस-पैंतीस बरसों में कला-रहित पापाचार की नज़र से फ़िल्म संसार में सुधार मुतल्क नहीं हुआ है। अतएव इस संस्मरणात्मक उपन्यास की आवश्यकता बिलकुल ऊपर उभर आती है।

ब्लिट्ज़ में जो छपा है उसका भाव उग्र की भाषा में यों है—

सो, नाम और नामा की भूखी नयी-नयी फ़िल्म-स्टार, जवान-जवान लड़कियाँ सिनेमा-संसार के कुचक्र में चंचल चली आ रही हैं। वैसे ही, जैसे दुष्ट, बदनीयत मकड़े के जाले में मक्खियाँ खिंची हुई जायें।

ये नवेलियाँ नाम कमाती हैं, नामा भी। लेकिन यह संभव होता है ख़ासी क़ीमत चुकाने ही पर। वह क़ीमत ऐसी बुरी होती है जो भल-मंसाहत की हद में अदा की ही नहीं जासकती।

ज़ियादातर ये नवेलियाँ होश में आती हैं तब जब 'चिड़िया चुग गयी खेत' की स्थिति सर पर आ जाती है। तब इन्हें पता पड़ता है कि फ़िल्म-संसार के गुरुओं का मक़सद है उन्हें सर्वगुण-सम्पन्न बनाना। इस सर्व में कई ऐसे गुण भी जिनकी चर्चा पब्लिक में खुल कर की नहीं जा सकती।

वह काम जिसकी कामना कामिनियों से की जाती है फ़िल्म स्टू-डियो की ड्यूटी के बाद शुरू होता है। यह कहना बेकार है कि उस काम का फ़िल्म-कला से कोई भी सम्बन्ध कदापि नहीं होता।

ये स्वयंभू फ़िल्म-स्टार-विधाता समझे-बूझे चारे या बहकावे देते हैं कि नटी का नाम-नामा वाला सुनहरी सपना सच होगा। नटियाँ पाप-पंक में जबतक सर्वथा जकड़ नहीं जातीं जान ही नहीं पातीं कि सुनहरी सपना तो नारकीय दुःस्वप्न बन कर रह गया है।

जितने दिनों यह कुचक्र चलता रहेगा उतने दिनों तक ऐसी प्रतिभावाली नवयुवतियों का फ़िल्म-संसार में प्रवेश नामुमकिन ही रहेगा जो नाम और नामा की चाहनेवाली होकर भी मार्केट-रेट से फ़िल्म-मार्केट की यह भीषण भूख मिटाने की अनिच्छुक होंगी। परिणामतः ऐसी नटियों से फ़िल्म-लाइन पट जायगी जो घर-की-होंगी न-घाट-की।

यहां तक 'स्टार' निर्माताओं के कुकरतबों की कथा; पर, ज़रा तारिकाओं की तरफ़ भी तो ताकें, कि ये बज़ाते-खुद क्या हैं। इनकी करतूतों की कहानियाँ भी कम कदर्य नहीं।

कैसा सर्वनाश है कि मात्र एक फ़िल्म में काम करते ही नयी-नवेली नटी की क़ीमत तिल से ताड़, राई से पहाड़ हो जाती है। कमनीय-कला शर्म से संकुचित खिड़की से हवा हो जाती है तब जब मोल-तोल के ब्लैक भाव-ताव सुन्दरी के सदर दरवाजे से अन्दर दाख़िल होते हैं।

फिर तो मामले का मुख़्तसिर रह जाता है—रुपया, रुपया, रुपया। रुपया आदि, रुपया मध्य, रुपया अन्त, रुपया अनन्त। इसके बाद कला की नजर से छोकरी होती हुई भी कलदार या नगद नारायण की नज़र से नमकीन नटियाँ बूढ़ी नानी बन जायें तो हैरत ही क्या।

तो बेशक यह परिस्थिति बाहर बरदाश्त है—बिल्कुल। यदि देश की अभिनेत्रियाँ इसी आत्म-विनाशी, आर्ट-विनाशी, राष्ट्र-विनाशी, सत्या-

नाशी आबोहवा में पलती रहीं जिसमें लोभ, दुराचार सोना और रूपा का वह पातक-मोह महान है जो ईमानदारी और सदाचार की सारी सीमाएँ लाँघ जाता है।

यहाँ तक तो 'ब्लिट्ज़' से—साभार। अब एक निवेदन मेरी ओर से। मुमकिन है कुछ पाठक 'फागुन के दिन चार' में अश्लीलता भी सूँघें। उनसे मेरा आग्रह यह है कि वाल्मीकीय रामायण के सुन्दरकाण्ड में ब्रह्मचारी हनुमान द्वारा महात्मा रावण के विलास-भवन का वर्णन कृपया वे पढ़ें और फिर (अपने जीवित या मृत बाप की क़सम खाकर) बतलाएँ कि 'उग्र' की लेखनी सनातन-धर्म की मर्यादा में है, या नहीं?

इस उपन्यास में कुछ अच्छा हो, तो उसकी बधाई दैनिक 'विश्वमित्र' के मालिक, सरस-शैली-सम्पन्न सम्पादक श्री कृष्णचन्द्र अग्रवाल को दी जाय। क्योंकि उन्हीं के आग्रह पर 'विश्वमित्र' के लिये मैंने इसको शुरू किया था। पचीस वर्ष यानी चौथाई शती बाद 'उग्र' का यह सम्पूर्ण उपन्यास प्रकाशित हो पाया है; अतः बधाई के पात्र प्रकाशक, मुद्रक 'रणजीत प्रिंटर्स' भी कम नहीं हैं।

और अभी मैं दर्जनों उपन्यास हिन्दी-पाठकों को दूँगा। और—अभी तो मैं जवान हूँ।

क्रिसमस, १९५९,
दिल्ली प्रवास।

—पाण्डेय बेचन शर्मा, उग्र

हिन्दी कथा-साहित्य से

('प्रसाद' रचित) 'कंकाल' में व्यभिचारियों की कथा है। यही विषय 'उग्र' जी के भी उपन्यासों का है। तारा और यमुना की जो जीवन-गाथा है वही 'दिल्ली का दलाल' की भी कथा है। 'उग्र' जी ने स्पष्ट कहा है कि यदि कोई माई का लाल सत्य के तेज से मस्तक तान, यह कहने का दावा करे कि तुमने जो कुछ लिखा है, समाज में ऐसी घृणित, रोमांचकारिणी, काजलकाली तसवीरें नहीं हैं, तो मैं उसके चरणों के प्रहारों के नीचे हृदयपाँवड़े डालूँगा। पर उनकी कथाओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि उनके वर्णन की शैली रस-लोलुप-शृंगारिकता से पूर्ण है। उसमें जो कलुषित व्यापार प्रदर्शित हुए हैं वे अनुचित, वासनापूर्ण तथा उत्तेजक हैं। 'कंकाल' को भी पढ़कर श्री कालिदास कपूर जी का भी यही विश्वास हो गया था कि अश्लीलता फैलाना 'कंकाल' का उद्देश्य है। किन्तु श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का कथन है कि वे हिन्दी उपन्यासों की छिछली धारा में ही तैरते रहे। देखना यह है कि अश्लीलता स्वयं साध्य बनी हुई है या साधन बनकर किसी अन्य लक्ष्य की ओर हमें ले जाती है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि 'कंकाल' में व्यभिचारों की जो कथा है, वह समाज के अत्याचारों की और पाखडों की कथा है। समाजपीड़ा, दम्भ, दुर्गुणों का भंडाफोड़, नक़ली और खोखले आदर्शों की निस्सारता, अनर्थकारी बन्धनों की जटिलता के प्रदर्शन पग-पग पर करते हैं। समाज का यह रूप देख कर हम आशंकित और क्षुब्ध होते हैं; पर, अश्लीलता की शिकायत नहीं करते। अश्लीलता की यह व्याख्या विज्ञ-जन ही कर सकते हैं। हमारे समान

साधारण पाठकों के लिये व्यभिचारों की कथा व्यभिचारों की ही कथा रहती है।

उपन्यासों की कथा-वस्तु कैसी भी हो चाहे वह सदाचार की शिक्षा से पूर्ण हो अथवा दुराचार के वर्णन से युक्त हो, पाठकों के लिये तभी उनके प्रति आकर्षण होता है, जब उनसे उनका मनोरंजन होता है। मनोरंजन में जितनी ही अधिक वे जीवन की यथार्थता पाते हैं, उतना ही अधिक उनके पात्रों की ओर उनका आकर्षण होता है। नीति की शिक्षाओं और समस्याओं की उलझन से उन्हें संतोष नहीं होता। 'उग्र' जी के यथार्थ चित्रण में अश्लीलता की जो चर्चा की जाती है, उसमें भी वह साध्य नहीं, साधन ही है। 'तोता-मैंना' की कहानियों में व्यभिचार का वर्णन साध्य नहीं, साधन ही है। यह सच है कि सिनेमा के चित्रों की तरह साधारण जन व्यभिचार की कथाओं को पसन्द करते हैं। इस सम्बन्ध में बर्नार्ड शा का एक कथन मुझे याद आया। उनका कथन था कि आप ऐसी किताबों को पढ़िये जिनमें आपकी दुष्प्रवृत्तियाँ खूब उत्तेजित होकर एक कल्पित राज्य में जाकर आप-से-आप नष्ट हो जायँ। कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि 'कंकाल' की सभी घटनाओं में वह यथार्थता नहीं है, जो 'उग्र' जी की रचनाओं में है।

मुझे तो 'प्रसाद' जी के दोनों उपन्यास किशोरीलाल गोस्वामी जी के उपन्यास के आधुनिक संस्करण मालूम हुए। उनमें विचित्र घटनाओं का समावेश है। उनमें न 'उग्र' जी की यथार्थता है और न जैनेन्द्र जी की कला-कुशलता है जो रहस्यमय मनोजगत का आभास देती है।

आधुनिक कथा-साहित्य में सबसे अधिक विक्षोभ की भावना उत्पन्न की 'उग्र' जी ने।

—पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी

: १ :

विश्वनाथ जी के मन्दिर के स्वर्ण-कलश पर अस्ताचलगामी अंशु-माली की हिरण्य-उज्वल किरणें जैसे दिव्यता बरसा रही थीं। कमसे कम उस पार प्रायः स्थिर खड़ी नौका पर विजया की तरंग में प्रायः स्थिर-भाव से बैठे लीलाधर कत्थक के भावुक-मन को ऐसा ही लग रहा था। उसने दोनों हाथ जोड़ मन्दिर के दिव्य-कलश को पहले नमस्कार किया और फिर टीप-स्वर में—सन्नाटे में मीलों तक सुनायी पड़े ऐसे स्थिर, अकंपित स्वर में—आवाज़ लगाई :

"म हा दे व !"

इस पर निपटने वालों की खड़ी सैकड़ों नौकाओं से वही आवाज़ प्रति-ध्वनित हुई :

"म हा दे व !"

और उस पार यानी काशीवाले तट पर अस्सीघाट से राजघाट तक महान मायामय मोहक मेला-सा फैला हुआ ऐसा लगता था जैसे आनन्द, उल्लास और रस की नौका-वाहिनी-सेना ने बनारस पर चढ़ाई कर दी हो और उसे गुदगुदा गदगदित कर दबोच-सा लिया हो। कितना रंग-विरंगा मेला मालूम पड़ता था जैसे सान्ध्य-गगन से उतर कर इन्द्र-धनुष काशी के कण्ठ में हसीन हँसली-सा सुशोभित हो गया हो। चारों तरफ तटपर, नौकाओं पर, अनन्त दीप-राशि यों

जगमगा रही थी जैसे गगन मगन के अगन सितारे विश्वनाथेश्वरी की शोभा देखने को उतर आये हों। कोलाहल यों हो रहा था मानो राजा के घर महाराजा की बरात आई हो। पचासों पटी हुई नौकाओं पर नाच-गान का विधान, रंग-रंग के मनोरंजन का सामान : रोशन चौकी, शहनाई, वेश्याओं का नाच, कत्थकों का नाच, भाँड़, नौटंकी और सब के ऊपर काशी की गज़ब गले-वाज़ गायिकाओं का गन्धर्व-बिमोहक-गान। उस पार इतना आकर्षण था, इतना कि इस पार निपटने वालों की नौकाओं के रसिया बनरसिया अनायास ही उधर खिंचे जा रहे थे : जैसे शक्तिशाली चुम्बक से लोहे के चूरे आकर्षित हों। छानते, निपटते, नहाते उनके महामोही प्राण मेले में ही थे। उस साल के बुढ़वामंगल मेले का वह अन्तिम मंगल और मेला था।

"क्यों गुरु लीलाधर !" तट से आवाज आयी—मैं लिख चुका हूँ। लीलाधर कत्थक स्थिर नौका पर था—"गुरुओं से गुरुआई ??"

"नहीं गुरू !" लीलाधर ने आतुर आकर्षित हो कहा "महामाया आती ही होंगी। झूठ मैंने नहीं कहा था।"

"महामाया ? यह महामाया कौन-सी बला है रे बाबा ! कल तुमने उसका नाम महारानी या रानी बतलाया था ?"

"वही—वही नाम है उनका गुरू जी !" लीलाधर ने दृढ़ता से सुनाया "मैं तो आदर-भाव से उन्हें बराबर महामाया ही कहता हूं। तब से जब वह आठ साल की निरी बच्ची थीं। तभी से मैं रानी का संगीत-शिक्षक रहा हूँ और जब वह ख़ासी स्त्री हो गयीं है तब भी मैं उनका गुरुपदाधिकारी ही हूं।"

"अच्छा सच बतलाओ लीलाधर! तुम गंगा में खड़े हो..." तटवाले ने ताबड़तोड़ पूछा "तुम लोग जब लड़कियों की जवानी तक गाना सिखलाते हो..."

"मैं तो नाचना भी सिखलाता हूं—आपकी कृपा से—गुरू महा-राज... !"

"वह भी सही—मैं पूछता हूं लीलाधर! तुम औरत के आकर्षण से पाक रह जाते हो ?"

"नहीं।" दृढ़ता से लीलाधर ने कहा "ऐसा प्रश्न गंगा नहीं ज़मीन पर भी गुरु महाराज आप पूछते तो लीलाधर झूठ न कहता।" वह नौका से तट की तरफ़ उतर चला "लेकिन मैं गंगा से बाहर निकला आ रहा हूं, इस भय से कि आप न जाने क्या-क्या सवाल गंगा की साक्षी में करें।"

"समझा !"

"हमारा तो गुरू महाराज खुला खेल फ़रुक्खाबादी है। हम चरित्र के व्यवसायी नहीं, रस के चाहक-गाहक हैं। चरित्र तो आप ऊँचे पंडितों का शेवा है। कत्थक चरित्रवान हो भी तो व्रतधारी बिलाड़ की तरह कोई मानेगा नहीं। हम जब ऐसी महामायाओं को सिखाते हैं तब एक अलिखित समझौता-सा रहता है। कि शिष्या गुरू की पलँग-सेवा तक करेगी—और बस—पैसे 'ऐसियों से' गुणी कत्थक कदापि नहीं लेते थे। कैसी कमायी। आखिर हम लोग भी ब्राह्मण हैं : ऐरे-गैरे नहीं।"

"ब्राह्मण—और कत्थक ?"

"इतिहास बतलाऊ ? आप तो कालेज-पास हैं !" लीलाधर ने सतेज परन्तु प्रसन्न भाव से सुनाया "कत्थकों का आरम्भ गुजरात के भट्ट ब्राह्मणों से, अकबर बादशाह के वक़्त से माना जाता है। इन में कुछ लोग स्वाँग किया करते थे और स्वयं को नागर कहा करते थे। दूसरे कत्थक अपने को नर्तक बतलाते किन्तु अकबरी दरबार में जिन्हें स्थान मिला वे कत्थक 'भटनागर' कहलाते थे। भारत में जितने भी नर्तक हैं अपने को ब्राह्मण ही कहते हैं। मैं पूछता हूँ नाटय-शास्त्र के विख्यात

भरतमुनि कौन थे ? शूद्र ? वणिक ? क्षत्रिय ? ना ना ना गुरू महाराज !"

"थे भरतमुनि देशके बड़े महान आचार्य, पर, उनके समयके गंभीर, विवेकी ऋषि-मुनि उन्हें 'कुछ कम मुनि' मानते थे...।

"कुछ कम मुनि ?"

"जैसे गाय के दूध के मुकाबले में भैंस का दूध 'कुछ कम दूध' माना जाता है—मैंने बाबूजी के मुँह से सुना—उसी तरह भरतमुनि मुनियों द्वारा 'कुछ कम मुनि' माने जाते थे।"

"क्यों ? भला ? ?"

"क्योंकि वह—बाबूजी ही से सुना—छिछली, चंचल, भ्रामक कला के अद्भुत आख्याता थे।"

"मुनि ? संस्कृत की एक कहावत पंडितों से सुनी है कि..."

"कि ?"

"नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।"

"खूब ! वाह जी लीलाधर जी !" तटवर्ती मित्र ने प्रसन्न प्रशंसा की "तभी तो मैं तुम्हारा मुरीद हूँ—बात करे तो लीलाधर जी की तरह। सरासर सच बात। ऐसा कोई मुनि याने मानव नहीं जिसका वचन वेद-वाक्य माना जाय--सो अतः..."

"जी गुरू महाराज !"

"हर आदमी को स्वयंमेव मुनि बनकर, मजे में मनन कर, संसार समस्या का हल निकालना चाहिये !"

"क्या बात कही है !"

"पर, यह भी बाबू जी ने कहा था। खुद मैं मुनि बनने से जहर खाना बेहतर मानता हूं। यह जिन्दगी मुनियों की नहीं मौजियों की—मैं तो मानता हूँ। ऐसा न मानता होता तो तुम्हारे रसीले वादे की

वंसी में पियासी मछली-सी उलझ कर उस पार से इस पार महामाया उर्फ़ रानी के दीदार को हकसापियासा चला न आता ।"

इसी समय एक छोटी डोंगी उन्हीं की तरफ़ आती नजर आयी । बातों ही बातों में बहुत वक़्त बीत गया—लीलाधर कत्थक को लगा--मेला कितना घनघोर हो चला है ! चाँदनी कितनी साफ़—जैसे ठंडीधूप ! !

"लीजिये !" लीलाधर ने निकटस्थ तरुण से कहा "महामाया आ गयीं ।" तब तक डोंगी किनारे आकर रुकी । उस पर दो ही व्यक्ति थे, एक पुरुष, दूसरी स्त्री । पुरुष डाँडे पर था । स्त्री ने गर्दन घुमा लीलाधर की तरफ़ मधुर देखा—लीलाधर को लगा जैसे चाँदनी मधुरतर हो गयी । उसने निकटस्थ तरुण से कहा !

"लो गुरू ! चितवत पन्थ रहेउ दिन राती, अब इन्हें देखि जुड़ावहु छाती ।"

"येन के हयन (यह कौन हैं ?)" बनारसी-बोली में स्त्री ने तरुण के बारे में लीलाधर से पूछा ।

"तेरी रियाया से परवरदिगार हम भी हैं ।" जवाब तरुण ने दिया किंचित निर्लज्ज, प्रथम परिचय के नाते जरा ढीठ, लेकिन नौका से नीचे उतरती शुक्ल-सिल्क-वसना उस रमणी को तरुण की ढिठाई बुरी नहीं लगी । वह चाँदनी में उसका चेहरा चित्त लगा कर देखने लगी । लम्बा, साँवला, बड़ी-बड़ी विवेकानन्दी ज़ुल्फ़ें, नेत्र बड़े, ओठ-बड़े, रसीले, नरम चाँदनी में वह जवान उस रमणी को गरम फ़ौलाद का बना-जैसा मालूम हुआ ।

"यह ?" बनारसी ही बोली में लीलाधर बोला "इन्हीं के बारे में न मैं तुम से बार-बार कहा करता था । भदैनी के मशहूर पंडित महाराज वे यही तो हैं जो कुछ हैं । तुमने भी इनका लम्बा-चौड़ा मकान ज़रूर देखा होगा । सारी काशी में इन लोगों से बड़ा ब्राह्मण दूसरा कोई नहीं ।

"महाराज पायलागी !" स्त्री ने मधुर मगर बनाने के स्वर में तरुण से कहा।

"पति की बढ़ती हो !" हाथ उठाकर आशीर्वाद के लहजे में तरुण बोला।

"और पति हो ही नहीं तो ?" ढीठ और आकर्षित औरत ने पूछा।

"तब तो टेढ़ी समस्या। ब्राह्मण के मुख से पति निकल गया तो पति होना ही चाहिए। कथा सुनी होगी : तुलसीदास को किसी सद्यः विधवा ने चरण छूकर प्रणाम किया था और उनके मुख से निकल गया था : सौभाग्यवती हो !"

'हाँ साहब !" बीच में बात झपट कर लीलाधर ने ब्राह्मण की स्तुति की "ब्राह्मण में बड़ा सत्त, बड़ा तेज होता था। गोस्वामी जी की बात झूठी नहीं हुई, विधवा का पति अरथी से उठ बैठा था।"

"वैसे ही" तरुण ने पुनः ढीठ और निर्लज्ज-प्राय बात बनायी "जब मेरे मुख से निकल ही गया तब जब तक मैं हूं इन्हें पति की कमी नहीं होने पायेगी।"

"मगर कोई स्त्री पति को विपत्ति मानती हो—तो ? वह आपका आशीर्वाद लेकर नाचेगी कि गावेगी ?"

"खेद है, अब तो ब्राह्मण के मुख से निकल गया—होकर रहेगा।"

"क्या ?" स्त्री ने सरस पूछा।

"कि मैं देखूं कि मेरी बात सच हो...।"

"क्या ?"

"कि आपको पति की कमी...।"

"चलो चचा !" नौका पर बैठे तीसरे मर्द ने लीलाधर से कहा "पति-पत्नी के बीच में हमारी यहाँ क्या जरूरत है। कहता हूँ तो

बाई जी बुरा मानती हैं। साढ़े सात बजे राजा साहब कटेसर के डोंगे पर पहुँचनें की साई है—आठ बज गये और अभी...।"

"बात गोपाल की ठीक है—भले ज़रा कर्कश लहजे में कही हुई कही जाय। चलती हैं बेटे। इन्हें किसी भी मजलिस में वक़्त पर पहुंचते कभी देखा है ? मनस्विनी—महा—क्यों महामाया ?"

"मेरे लिये ज़रा ठंढाई नहीं रखी है, क्या ?"

"है न ? दो गुरू ! आज अपने ही हाथों महामाया को ढंडाई पिलाओ।"

तरुण ने पात्र से पुरवा में डाल कर ढंडाई रमणी के आगे पेश की।

"इसमें भंग है कि नहीं ? ज़रा-सी...।"

"तुम्हें गाना है, ग़ाफ़िल हो गयीं तो ?" लीलाधर ने वर्जन-जैसा विचारा।

"ज़रा-सी। कईबार देखा कि ज़रा-सी बूटी—रंग-सा बाँध देती है।"

ठंडाई लेते ही तरुणी ने लीलाधर से कहा—"मैं चलती हूँ। सारा सामान राजा सहाब के डोंगे पर पहुँच गया होगा। तीन बजे रात का मामला है। अब इन्हें कहाँ ले जाइगा ?" तरुण को ताक कर तरुणी ने लीलाधर से पूछा—"मेरी तो यह सलाह है कि जब तक मैं मुजरे में रहूँ आप लोग बुढ़वामंगल मेला मज़े में देखें लेकिन घर न जायँ। पिछली रात मुझे मेरे घर पहुँचाने के बाद आप लोग जायें।" बुढ़वामंगल में सारी रात जागा जाता है—ये घर पर देर से भी पहुँचेंगे तो कोई बदनामी की गुंजायश नहीं है। बल्कि आप लोग भी राजा साहब के डोंगे पर आइये।"

इसके बाद वह ज़रा भी न रुकी, पुनः नौकारूढ़ हुई और गोपाल गंगातरंगजाल चीरता हुआ उसको काशीतट के मेले की तरफ़ ले

चला। उसके प्रस्थान के बाद लीलाधर मन-ही-मन उस तरुण का भाग्य सराहता रहा कि पहले ही मिलन में रानी पर उसने कैसा सफल प्रभाव डाला और वह तरुण मन-ही-मन लीलाधर का भाग्य सराह रहा था कि कैसी-कैसी चिड़िया उसके जाल में प्रसन्न चहका करती हैं।

"वाह गुरू लीलाधर" उसने सुनाया "इसे छुटपन से तुम जानते हो ?"

"गुरू हूँ इसका तब से, जब यह आठ साल की थी।"

"और बच गए ? गंगा में कहोगे ?"

"मन से बचने की बात कहना मुश्किल है—यह साधारण सुन्दरी और गुणवन्ती औरत नहीं, सरासर असाधारण है। पहले तो औरत ही मर्द को खींचती है —फिर कोकिल-कण्ठी हो तो बदसूरत औरत भी मज़ेदार मालूम पड़ती है...।"

"मज़ेदार ? क्या लफ़्ज कहा लीलाधर गुरू कि वाह, वाह !"

"असिल में बूटी तरंग पर है, मन-तुरंग रंग पर है।"

"मैं समझता था—मैं ही क्या हम सभी कुलीन मानते हैं कि नाचना नचनियों—माफ़ करना—अकुलीनों का धन्धा है। पर, देखता हूँ लीलाधर कत्थक इसी धन्धे में एक-से एक अच्छे शिकार फँसाया करते हैं और वह भी अनायास और वह भी आतुर।"

"यह सब तो आप ब्राह्मणों के चरणों की कृपा है गुरू! पर नाचने की कला को जो लोग नीच मानते हैं—मैं भी क्षमा चाहूँगा—वे न तो कला जानते हैं और न उसकी विश्व-विमोहनी-शक्ति। बाबूजी ! यह कला कत्थकों के बाप की नहीं, न नाचनारियों की नानी की—जितनी पुरानी यह सृष्टि है उतनी ही पुरानी नर्तन-कला है जिसमें लय, ताल काव्य, संगीत, नाटक और रंग के—रंग-रंग के तत्व का विलक्षण सौन्दर्य संगम है। आदि नृत्य, ताण्डव और लास्य में सदाशिव के सार्वलौकिक ओज़ और पौरुष तथा भवानी के लावण्य और कोमलता का प्रतीकात्मक

समन्वय है। श्री कृष्ण की रास में सब कुछ छोड़ प्रियतम की भक्ति में लीन होने का शाश्वत संकेत, संदेश है।"

"वाह लीलाधर जी वाह !" तरुण ने लीलाधर के कथन की दाद दी जिससे और उत्साहित हो लीलाधर नृत्य-कला के बारे में अपना परिज्ञान प्रगट करने लगा।

"नचनियों का धन्धा यह दिव्य-कला कदापि नहीं। इसका पुराना शास्त्र है, पद्धतियां हैं, शैलिया हैं, भेद-उपभेद है। नृत्य-कला केवल कूल्हे हिलाना नहीं है। ३१ तो ताण्डव के प्रकार हैं, १२ लास्य के—पढ़ा है शास्त्र किसी ने? की है संगत किसी ने ? इन्हीं ताण्डवों और लास्यों और रासों से सारे देश या विश्व में नृत्य के विविध भेदोपभेद फैले। हमारे देश में देश, काल और संस्कृति के अनुसार नृत्य-कला के चार प्रमुख शास्त्रीय-भेद किए गए हैं और व्यवहृत हैं—भरतनाट्यम, कथकलि, मणिपुरी और कत्थक अथवा नटवरी-नृत्य...।"

"नटवरी-नृत्य—कैसा ?"

"नायक के अंग के जो नृत्य होते हैं उन्हें नटवर-नृत्य तथा नायिका के अंग के नृत्यों को नटवरी-नृत्य कहते हैं।"

"कुछ भी हो—नृत्य शंकर से निकला हो, श्री कृष्ण से प्रतिपादित हुआ हो, अर्जुन द्वारा समर्थित भी हो, पर, कत्थकों की कोई इज़्ज़त नहीं—शायद इसी लिए 'नचनियाँ' शब्द अपमान की सड़क पर सनका हो।" तरुण ने छेड़खानी की अदा में लीलाधर से कहा। पर लीलाधर गम्भीर था।

"यह आरोप बहुत हद तक ठीक है कि वर्त्तमान में कत्थक कोई आदरणीय शब्द नहीं रह गया है। इसका कारण कत्थकों का नैतिक, चारित्रिक पतन ही है। कलाकार की इष्टदेवी केवल कला—मात्र कला। यह कला कामिनी बड़ी जलने वाली है, अपने मुक़ाबिले किसी को भी बर्दाश्त नहीं करती। 'या में दो न समायँ'—सरासर सच है। कत्थक

जब तक हरि-कथा-कथक, कीर्तक थे उनकी नृत्य-कला-साधना भक्ति-विभोर होती थी। वह भगवान के आगे नाचते थे न कि साधारण इन्सान के। जिस कत्थक ने सर्वप्रथम राज-भय या धन-लोभ से देवमन्दिर त्याग राजमन्दिर में नृत्य-चंचल-चरण चलाये निस्सन्देह उसने अपराध किया। समाज के प्रति मैं नहीं कहता, जाति के प्रति भी—उसने अपराध किया, नृत्य-कला के प्रति—ओह !"

जैसे लीलाधर को कुछ याद आया—वह सिहर-सा उठा—"गुरू महाराज, एक प्रसंग याद आ गया। कहते हैं शाहजहाँ के जमाने की कथा है। उन दिनों श्रीनाथद्वारा में चन्दा जी नाम के एक कत्थक विराजते थे जिनकी नृत्य-कला की सारे देश में ख्याति थी। पर वह सिवाय श्रीनाथ जी के दरबार के और कहीं अपनी कला दिखलाते ही नहीं थे। उच्चकोटि के भावुक-साधक थे। उनकी प्रशंसा जब बादशाह के कान में पड़ी तब उसी वक्त उन्हें बुलावा भेजा गया। पर उन्होंने श्रीनाथ जी के सामने किसी और को नाथ मान माथा झुकाने से सविनय अस्वीकार कर दिया। नतीजा यह हुआ कि बादशाह ने उन्हें बलात्कार दिल्ली बुलाया और नृत्य दिखलाने का इर्शाद किया। "गुस्ताखी तेरी बड़ी" बादशाह ने फर्माया "बम्भन ! फिर भी तू एक बार नाच कर दिखा दे तो मैं तुझे बेशक बाखुशी बख्श दूँगा। वर्ना...वर्ना...।" पर चन्दाजी महाराज "लीलाधर ने बुजुर्ग के आदर में कान छुये" टससेमस न हुए और राजरोषाग्नि में जल-बल गये। वह थे कत्थक ! शायद वही आखिरी कत्थक रहे हों। इसके बाद भय से, लोभ से लोग वही हो गये हों जो हम लोग रह गये हैं।"

"क्या रह गये हैं ?"

"समाज को भोग में प्रवृत्त करने वाले—समाज के भोग की वस्तु...।"

"भई वाह लीलाधर ! मैं इसीलिये तो पंक्ति ब्राह्मण होकर भी तुम्हारा मुरीद हूं—क्या बात करते हो कि मोती की दाने आबदार ला-जवाब ! ऐसी बढ़िया बातें कि विजया के तरंग में भी—कितनी देर हुई—ओहो ! मैंने एक चौघड़ा पान तक नहीं जमाया ! न तुम्हीं से पूछा ।"

"हाँ, समय काफ़ी हो गया । मेला जम गया है, दक्षाश्वमेधघाट पर आतशबाज़ियाँ छूट रही हैं—सुनिये ! यह टीप—यह गला—यह आवाज़—बतलाइये किसकी है ? यह बड़े रामदास महाराज का मयूर-मोहक कण्ठ है । आज बाबू जगमोहनदास के डोंगे पर ८ से १ बजे तक उनका गायन होगा । कितने बजे होंगे ?"

"नौ से तो कम नहीं ।" लीलाधर को पान का चौघड़ा पकड़ाते हुये तरुण ने कहा । साथ ही त्वरित दोनों अपनी नाव पर आ रहे, दोनों डाँड़े चलाने को आतुर । जीत हुई तरुण की—"तुम आराम से बैठो लीलाधर ! कोई अच्छी चीज़ सुनाओ—मैं खेता हूं । यह बजड़ा—देखते हो सामने ?—इस तट पर क्यों आ रहा है...।"

"जुआड़ियों का बजड़ा मालूम पड़ता है ।"

"मेले में जुआड़ियों के बजड़े भी हैं ।"

"बीसियों—लाखों रुपये का जुआ हो जायगा ।"

"खेलते कौन हैं ?"

"जिन के पास जियादा माया है । अधिक रुपये यों तो भोग की तरफ़ प्रेरित करते हैं, या द्यूत की तरफ या दोनों ही तरफ़ । अधिक रुपये हर तरफ़ प्रेरित करें पर उत्तम दिशा में बमुश्किल प्रेरित करते हैं । पक्के महालों के सौ-सौ खत्री, अग्रवाल, गुजराती जो प्रकट धन्धों से सहस्र-सहस्र रुपये उपार्जित करते हैं उन्हीं का अधिकांश जुओं के अड्डों पर, शराबखानों में और बाइयों के कोठों पर नज़र आता है ।

"इन्हें पुलिस पकड़ती नहीं ?"

"ये जुआड़ी पुलिस की आमदनी के प्रौढ़ साधन हैं। जुए पुलिस की जानकारी में होते हैं—अक्सर कोई 'बड़ा' व्यापारी या गुण्डा ठेका-जैसा लेता है पुलिस वालों से—हज़ारों कलदार नक़द देकर। पुलीस वाले शहर के सभी जुआड़ियों-बदमाशों को जानते हैं। पकड़ते तभी हैं जब उन्हें उनका भाग नहीं मिलता। आप उसी बजड़े की तरफ़ नाव खेये जा रहे हैं!—ऐसा नहीं! मेरी तो इन गुण्डों—धन के लिये खून तक करने वालों की चर्चा से भी रूह काँपती हैं—इधर चलाइये—गुरूजी! हाथ जोड़ता हूँ—मेरा जमा-जमाया नशा उखड़ जायगा। हाँ—इधर से मेले की तरफ़ चलिये—आज आख़िरी मंगल का अन्तिम मेला है। पैसेवालों और शौकीनों की बड़ी-बड़ी पटी नावों पर एक-से-एक खेल तमाशे होंगे। आज—मेरी तो सलाह है कि पहले अस्सी घाट की तरफ़ चलें फिर उधर से धीरे-धीरे महा-मेले का अवलोकन करते हुये जल-मार्ग से राजघाट तक आयें।"

"मगर तुम गाओगे नहीं, तो मुझ से नाव खेयी नहीं जायगी—समझ लो लीलाधर—हाँ—रहे...एक।

"एक दिन मुरली स्याम बजाई!"

लीलाधर ने अद्भुत कण्ठ से शुरू किया :

"एक दिन मुरली स्याम बजाई,
मोहे सुर, नर और सकल मुनि, उनै बदरिया आई।
जमुना-नीर-प्रवाह थकित भयौ चलै नहीं जु चलाई,
गाइनिके मुख दाँतनि तृन रहे, बच्छ न छीर पिवाई।
द्रुम-बेली अनुराग-पुलक-तनु ससि थकि निसि न घटाई,
'सूरदास' प्रभु मिलिबै कारन चलीं सखी सुधि पाई।
एक दिन मुरली स्याम बजाई!"

"वाह! भाई लीलाधर वाह! जी करता है कि तुम्हारा गला काट लें।"

"यह अच्छा 'जी' का नमूना बतलाया गुरू महाराज! पर झूठ नहीं है। इन्सान का यही शाश्वत भाव रहा है कि जिसे सुकण्ठ पाना उसका गला काट लेना। यानी अनजाने सुन्दर को असुन्दर कर छोड़ना। ख़ैर। यह पद मैंने खासतौर से आपको इसलिये सुनाया है गुरू महाराज! कि आप का ध्यान संगीत की शाश्वत-शक्ति की तरफ़ आकर्पित हो। सूरदास जी गाते हैं—एक दिन श्रीकृष्ण ने मुरली बजाई ऐसी कि देवता, मानव और ऋषि-मुनि नाद-ब्रह्म-लीन हो गये। अकाश मे घाच्छन्न हो गया। यमुना का प्रवाह ही स्थगित हो गया ऐसा कि चलाये न चले। गायों के मुख में दाँतों से दबी दूब जहाँ-की-तहाँ रह गयी। इतना ही नहीं, वे अपने बछड़ों को दूध पिलाना तक भूल गयीं। द्रुम और लताएँ फूल-फूल उठीं। चन्द्रमा थम गया। रात रुक गयी और रसिक बिहारी से मिलने कोमुरली वाद से संवाद पाते ही सखियाँ लहराकर मधुवन की ओर चल पड़ीं।"

"वाह, वाह! लीलाधर, तुम कथा कहा करो—कथकई से कथा-कही में कम आमदनी नहीं है।"

"गुरू महाराज कत्थक माने कथावाचक, कीर्तनकार ही है। कथा के कण हमारे परमाणु में निहित हैं।"

अब उनकी नौका अस्सीघाट के मेलों के निकट आ गयी जिससे सहसा आपसी बातें बन्दकर वे मेले की तरफ़ आकर्षित हो गये। इधर भी घाटों पर बनारसियों और दस-पाँच कोस निकट के ग्रामीणों की; बच्चों, स्त्रियों, जवानों, बूढ़ों की; अमीर, ग़रीब तथा मध्य-वृत्ति वालों की; गृही, वैरागी और संन्यासियों की; आनन्दी, भोगी और रसियों की भीड़ बहुत थी। पर पटी हुई, सजी हुई नौकाएँ दो ही तीन थीं। एक सुरसंड के राजाकी, एक भदैनी के धनिक ख़ज़ांची साहब की और एक जग्गू पहलवान गुण्डा सरदार की। रोशनी अच्छी थी सुरसंड के पटे डोंगों पर, खान-पान की चहल पहल थी ख़ज़ाँची साहब के डोंगों पर लेकिन हा हा

हो हो हाहाकार जो मेले की जान मानी जाती है जग्गू पहलवान के डोंगों पर थी। वहाँ बनारस के मशहूर लावनीबाज़ प्यारे उस्ताद की निर्गुणी-लावनी लहरा रही थी खजड़ी, मुरचंग, मजीरे पर और सैकड़ों गहरेबाज़ बनारसी रंगपत्ती से टिचिन झूम झूम कर रस ले रहे थे। लावनियाँ अनपढ़ों के मनोरंजन के ये कही या गायी जाती थीं पर उनमें पूर्वीय-दर्शन का सार निहित होता था।

नहीं रहे वो दारा सिकन्दर
दो दिन की अफ़सरी रही..
चले गये सब मुल्के-अदम को
ना खुश्की ना तरी रही

तुलसीघाट पर अनेक उत्साही जन-रामायणी एक डबल डोंगे पर रामायण गा रहे थे; उस अदा से जिसे यों अदा किया जाता है—ये हाँ ाँ ाँ ाँ आगे चले बहुरि रघुरा ा ा ा ई ई ई ई ई। ये हाँ ाँ ाँ ाँ ाँ रिष्यमूक परबत नियरा ा ा ा ा ई ई ई ई ई। भदैनी और शिवालय घाटों पर कोई ख़ास उत्साह नज़र नहीं आया। बीच के अन्य घाटों पर भी मेला यथा पूर्व ही था। अलबत्ता दशाश्वमेध घाट की शोभा, भीड़ और तमाशे विशेष थे। यहाँ ऐसा लगता था जैसे नौकाओं का रूप धर दीपावली गंगा की तरंगों पर पूर्ण चन्द्रोज्वल रात में रंग-रंग से नाच रही हो। दर्जनों डोंगों पर नाच गान चल रहा था। काशी की एक से एक मशहूर गणिकाएँ अपनी अलौकिक कला दिखला रही थीं। सारंगियाँ ग़जब गुनगुना रही थीं, तबले ठनक रहे थे। गाने पक्के ध्रुपद के अंग के नहीं—जोरधुन पर थे आंचलिक धुनों के सरस धुनी। चैता, माँड, काफ़ी, सारंग, दादरा, ग़ज़ल जैसी हलकी-फुल्की धुन-रागिनियों का बोल बाला था। लीलाधर डोंगों पर गाने वालियों का परिचय उस तरुण को बराबर देता जाता था: यह शाहज़ादी है—गाने से अच्छा नाचना जानती है। उस सामने वाले डोंगे पर जो गायिका रसभरा गान गा

रही है काशीबाई उसका नाम है। दुबली-पतली, नाज़ुक नाज़नी। पान खा ले तो गले में लाल लकीर नज़र आने लगे। पर गला---कसम शारदा की काशीबाई का कण्ठ नहीं है, स्वर-ही-स्वर है। ऐसा सुच्चा सुर लगाती है कि चतुरों का चित्त चक्क हो जाता है। हँसोगे गुरू महाराज लेकिन काशी बाई जब भीम पलास का आलाप करती है—मारे आनन्द और उल्लासके मेरी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है। क्यों, गुरू ऐसे आनन्दाश्रु कभी आपके भी अनुभव में आये हैं....?"

"मेरी आंखों में कड़वे धुएँ और किरकिरी के सिवाय किसी भी हालत में आँसू नहीं आते।"

"कभी-कभी रोने में भी अकथनीय आनन्द होता है गुरू...क्या राय है आपकी ?"

"छिः !" तरुण ने ताव से कहा—"आँसू और रोदन ये दोनों धन्धे सनातन काल से औरतों के लिये बिशेषतः छाँट दिये गये हैं। बन्दा तो हर हालत में हँसने का हामी है।"

"हँसने में निर्दयता-सी, कठोरता-सी, अहंकार-सा, अज्ञान-सा लक्षित होता है।"

"लीलाधर ! लगता है तुम्हारी बूटी उतर चली—है न ? हँसी हा हा हा हा दिव्य-वस्तु है। किसी भी क़ीमत लेने योग्य।"

"किसी भी क़ीमत...? हँसी ?"

"विश्व—यानी सारे जगत को रुला कर भी मुझे एक हा हा हा हा कारी हँसी—ऐसी हँसी जिसकी हवा से आँखों में पानी आ जाय—मिले तो मैं तो महा-मूल्यता न देखूं और आव देखूं न ताव ले ही लूं।"

"और आँसू ?"

"मूज़ी के लिये छोड़ दूं।"

"अरे नहीं, गुरु महाराज ! रोने में बड़ा मज़ा है—बच्चे इसी लिए रोते हैं कि रोने में उन्हें आनन्द प्राप्त होता है। बड़े चंट होते हैं

सभी बच्चे—हाँ—मजे की परख में। वे यों रस ले कर न रोते यदि रोदनमें सर्वाधिक शान्ति न होती।"

"मगर यह बच्चों की बात है लीलाधर जो न तुम ही न मैं। रोकर कोई दुनिया में कुछ कर सका है कभी ?"

"सजल नैन—गोस्वामी जी की विनय सुनिये," लीलाधर ने भावुक-भाव से सुनाया "सजल नैन, गद्गद् गिरा, गहबरमन, पुलक शरीर, गावत गुनगन राम के केहिकी न मिटी भव-भीर भव-भीड़ छाँटने की पहली विधि तुलसी दास महाराजके अनुसार है : करुणा-भाव, सजल नैन।"

देखो भई लीलाधर, तुम्हारे हाथ जोड़ूं—नशे में तुलसीदास की चर्चा न करो। बुढ़वामंगल—महामेला—और तुम हो कि विचारों में अकेले ! सूप की समगाई में कूप का राग। यह लो! यह मजेदार डोंगा है लगता है मियाँ भाँडों का जमावड़ा है।"

"यह राजा साहब नगीनापुर का डोंगा है।" लीलाधर ने बतलाया "हर साल ये रईस आतश बाजियाँ छोड़ाते हैं और लखनऊ के महामशहूर भाँड़ अजूबा की पार्टी को बुलाते हैं। बुढ़वामंगल के सिलसिले में राय बहादुर के पचासों हजार कलदार नक़द ख़र्च होते हैं। रियासत छोटी और मक़रुज है... ।"

"मक़रूज क्या ?"

"कर्ज से लदी हुई। पर शान बड़े हैं, शौकत बड़े।

"मेरा घोड़ा खाता है केला ?

सरपट पहुँचता है बुढ़वामंगल मेला।"

डोंगेपर से भाँड़ों के खयाली घुड़दौड़ का तुक-बन्द-वर्णन मेले की में व्याप्त होने लगा। उस डोंगेको सैकड़ों डोगियों ने घेर-सा लिया जिन पर प्रसन्न बनारसी भाँडों की कला का रस लेते थे।

मेरा घोड़ा चलता है तेज...
ऐसा-ऐसा-ऐसा जैसा गोरा—अंग्रेज !
दौड़ता है बगटुट...
खाता है चाकलेट, फ्रूट, बटर, बिस्कुट ।
मेरा घोड़ा अक़्ल भी रखता है थोड़ी—
बीघों दूर रखता है अपने से घोड़ी ।
सरासर संसारी है भारी असंसारी—
बछेड़े, बछेड़ियाँ फिर भी नहीं परिवारी ।

"अब आगे बढ़ो गुरू महाराज !" लीलाधर ने आग्रह किया---"आधी रात हो चली। अब जरा विद्याधरी बाई जिस डोंगे पर हैं उधर चलें और उनके अद्‌भुत-कण्ठ से विहाग-राग सुनें ।"

जैसे वह तरुण भाँड़ों की नक़ल अभी और देखना चाहता तो था, पर, लीलाधर के प्रति अन्तरंग-आदर-भाव से, वह रुका नहीं। नौका उधर ही ले—यानी खे—चला जिधर को लीलाधर ने कहा। अलबत्ता उसने घाट की तरफ़ लीलाधर को आकर्षित किया—

"ज़रा देखो, कैसी भीड़ है। दशाश्वमेध घाट पर एक-से-एक दूकानें, जिन पर लहराती रंग-बिरंगी झंडियाँ। क्रय-विक्रय, विस्मय-मय विनिमय। मध्यरात हो जाने पर भी मेले का अभी किशोर-काल। जैसे अभी ही आरम्भ हुआ हो। बच्चों के हाथ में मिट्टी के खिलौने की लालटेनें—शत-शत-शत—झिलमिल—चंचल। लंबे बंबुओं पर काग़ज के खिलौने और रूई के लंगूर बेचनेवाला अपनी छटा अलग ही दिखला रहा है। बनारस के खिलौने मुझे इतने पसन्द—इतने—कि दीवाली पर जितने भी पैसे मेरे पास होते हैं—खिलौने ही मैं ख़रीदता हूँ और कोई ख़ूब खिलौना दस रुपये का भी हो तो बिना लिये नहीं छोड़ता।"

"समरथ को नहिं दोस...गुरू जी..." लीलाधर ने कहा--"आपको प्रभु ने बड़ा आदमी बनाया है; चाहें तो सौ के खिलौने ख़रीदें। इसमें

कोई शक नहीं कि बनारस के खिलौने-साज़ बहुत ही अच्छे खिलौने सजाते हैं और—अक्सर—सामयिक विषयों से फ़ायदा उठाते हैं।"

"मेरा मन भी जब-तब खिलौने बनाने का काम करने को करता है।"

"आपको क्या कमी है ? आप धनिक-पुत्र, कालेज-पास !"

"यह भी एक ज़ोरदार कला है। लीलाधर !"

"चित्र तो आप बनाते हैं। मैंने आपकी बैठक में कितने ही चित्र देखे हैं। पर, खिलौनों का भी श्रीमान को शौक़ है—आज ही विदित हुआ।"

"मेरे कमरे में तुमने रवीन्द्रनाथ ठाकुर का बड़ा-सा 'बस्ट' देखा है कि नहीं ? वह मिट्टी का है ; ऊपर से पलस्तर किया हुआ। उसे मैंने कोई ढाई घंटे में तैयार किया था।"

"आप गुरुओं के घराने के हैं..." लीलाधर ने कहा—सिद्धों के—जो न करें थोड़ा। बनारस में इतने रईस के लड़के हैं, किसको लीलाधर कत्थक नहीं जानता। लेकिन भदैनी के पं० रत्नशंकर के नवासे में कोई खास आकर्षण, ख़ास सिफ़त है जो लीलाधर उसको गुरू...गुरू 'गोहराता' फिरता है। अरे ! वह देखिये ! उस डोंगे के पास फ़ौजदारी-सी हो रही है ?"

"है तो कुछ ऐसी ही बात...। दर्जनों छोटी नावोंवाले, डंडे ताने, झपट-जैसे रहे हैं।"

"यहाँ के मनचलों की यह आदत महा बुरी है—महाराज—कि बिना फ़ौजदारी एक भी मेला-तमाशा जाने नहीं पाता। कोई अच्छी गानेवाली होगी। उसी के लिये यह सब हंगामा—अरे गुरू ! यह तो वही डोंगा मालूम पड़ता है जिस पर महामाया का मुजरा होनेवाला था। ज़रा उधर ही चलिये तो।"

उस डोंगे के निकट आने पर इन लोगों ने देखा कि उत्तेजित बनारसी गहरेबाज़, मुश्क-बल्लेबाज़—"काट दे लहासी ! काट दे लहासी !"

चिल्लाते उस डोंगे पर चढ़ते जा रहे हैं। डोंगे ऊपर भारी हंगामा मचा हुआ है।

"देखना होगा गुरूजी!" लीलाधर ने कहा—"कहीं महामाया संकट में न हों। मैं देखता हूँ।"

"अरे तुम क्या देखोगे लीलाधर! इस भीड़ में पिस जाओगे।" तरुण ने नाव के डाँड़े छोड़ते हुए, उठते हुए कहा, "तुम नाव सँभालो ---मैं देखता हूँ।"

इसके बाद उत्तर की प्रतीक्षा किये बग़ैर वह तरुण अपनी नौका से किसी दूसरी नौका पर और उससे तीसरी—चौथी पर डाँकता-फाँदता उस डोंगे पर चढ़ ही गया। गुण्डों ने या तो जानबूझकर अथवा डोंगे के जलसे के संयोजकों से किसी बात पर नाखुश होकर धावा बोल दिया था। डोंगे पर राजा के लोगों और बनारसी मनचलों में द्वंद्व मचा था। सारे अतिथि घबराये—किंकर्त्तव्यविमूढ़ थे। भागने तक की जगह नहीं थी। तरुण ने देखा, कई गुण्डे एक घिघियाती औरत पर झपटे। देखा, वह वही स्त्री थी जिसे थोड़ी देर पहले उसने ठंडाई पिलाई थी। यानी रानी। और तरुण के मन में किसी दृढ़ निश्चय की बिजली कौंधी। किसी एक का डंडा छीनकर यह चिल्लाता हुआ वह भीड़ में पिल पड़ा कि "कोतवाल साहब पुलीस दल के साथ आ गये हैं—सालो! अब तुम्हारी ख़ैर नहीं।" बनने की बात थी—पुलीस-कोतवाल के नाम ने भीड़ पर जादू का असर किया। आक्रमण भूल गुण्डे तितर-बितर भाग चले। कई तो गंगा में कूद पड़े। तरुण सीधे उस स्त्री की तरफ़ झपटा। उस समय रानी गहनों से लदी हुई मजलिस और मुजरे की पोशाक में थी। तरुण ने सहसा उसे अपनी लंबी भुजाओं में उठा लिया। तब तक भीड़ काफ़ी छँट गयी थी। वह उसे लेकर उस डोंगे से अपनी नौका की दिशा में चला। लीलाधर भी पीछे नहीं था। मौक़ा पाकर उसने अपनी नाव

मौक़े पर डोंगे से भिड़ा रखी थी। तरुण को आते देख वह उल्लसित हो उठा—"इधर, गुरू महाराज! मैंने इधर नाव लगा रखी है। यह महामाया ही हैं न? ईश्वर बड़ा कारसाज़ है। किस मौक़े पर हम यहाँ आये!"

लीलाधर ने बढ़कर तरुण के हाथ से रानी को सँभाला और नौका पर दुपट्टा बिछाकर लिटाया।

तरुण पुनः डाँड़ों पर आ भिड़ा और त्वरित से भी शीघ्र नौका वहाँ से एक तरफ़ चुपचाप सनक-सी गयी। रानी मूर्छित हो गयी थी।

: २ :

३० वर्ष बाद लिखी जा रही यह कथा ३५ वर्ष पहले की है। कहानी काशी बनारस या वाराणसी की है। ३० वर्ष पहले की काशी के और आज की वाराणसी के सामाजिक-वातावरण में क्या अन्तर पड़ा है, कहना कठिन है। ३० वर्ष पहले काशी में राँड़ें थीं, साँड़ थे, सीढ़ियाँ थीं और संन्यासी इतने थे कि इनसे बचकर काशी-सेवन सर्वथा असम्भव था। साँड़ काशी में नहीं हैं—यह मैं दूर दिल्ली से अनुभव करता हूँ। वेश्या-वृत्ति-विरोधी कानून की कसाई के बाद रण्डी-वृत्ति की राँड़ें भी कैसे हो सकती हैं? काशी-रूपी सिंहासन के साँड़-राँड़ रूपी पाये ही जब नहीं रहे तब सीढ़ी-संन्यासी सलामत हों भी तो कितने अप्राकृतिक-रूप में होंगे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। सीढ़ियाँ तो बची हैं कि पत्थर हैं; पर, इस कलिकाल में भी संन्यासी हैं (आज भी)—और काशी में यह कलकत्ते के विकराल-ब्लैक-

बाज़ारी करोड़ी, व्यापारी घासीराम (घुग्घूराम फ़र्म) की राय में सनातन-धर्म की शाश्वत महिमा है।

परन्तु कबीरचौरा मुहल्ले के लीलाधर मिश्र कत्थक की राय कुछ और ही है। लीलाधर मेरा परम परिचित। वह उस दिन गणराज्य-दिवस पर अपने किसी शिष्य के साथ दिल्ली आया था। उसने काशी की गतिविधि पूछने पर जो उत्तर दिया वह अनोखा है।

"गुरूजी !" उसने बतलाया, "राँड़ गयीं; साँड़ गये; सीढ़ियाँ जो हैं—गयी-गुज़री से भी बदतर दशा में हैं। रहें, गंगा नहाने जाता ही कौन भकुवा है, जब कि नल-गंगा घर-घर हाज़िरी बजाती हैं ? सो, आजके सयानों ने सीढ़ियों का रास्ता ही छोड़ दिया है ! त्याग के बल बिलकुल नहीं और ग्रहण के बल गपागप्प—संन्यासी हैं भी, तो ऐसे कि कलकत्ता-बम्बई के ब्लैक-बाज़ारी-भक्त यदि उन्हें छोड़ दें, तो (केंचुल छोड़ने पर सर्प नयी चमक, नया विष पाता है, पर) स्वामी-जन ऐसे नज़र आयें जैसे शर्म छूट जाने पर छबीली भटियारिन—औरत !"

"भई वाह ! लीलाधरजी, तुम तो कविता कर गये। बड़ी खुशी हुई मिलकर। एक ही व्यक्ति जब विश्व की मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व कर सकता है तब यदि मैं यह कहूँ कि आपको देखकर मैंने सारी काशी के दर्शन पा लिए तो अतिशयोक्ति न होगी।"

"ना बाबा ! मुझ में सारी—आधुनिक—वाराणसी नहीं है !"

"तो फिर किसमें है ?"

"ग़लत हो सकती है, यह मेरी अपनी राय है कि गुण कहीं जाते नहीं; रूप भले ही बदल लें।"

"क्या मतलब ?"

"काशी के कु-ख्यात गुण राँड़-साँड़-सीढ़ी-संन्यासी उस अदा में आज उसमें न हों—पर हैं; दूसरे रूप में। आज राँड़-साँड़-सीढ़ी-

संन्यासी चारों के गुण काशी के पॉलिटीशियनों में एकट्ठे हो गये हैं।"

"काशी के किसमें ?" मैंने उत्सुक-प्रश्न किया। लीलाधर कत्थक के मुँह से पॉलिटिक्स सुनने की आशा मुझे नहीं थी।

"जबरे पार्टीबाज़ पॉलिटिकल नेताओं में। पंडितजी, सिंहजी, मुन्शीजी, भैयाजी में। ये राँड़ की तरह नीति-विरहित—वीर्य-विरोधी हैं महाराज ! यहाँ 'वीर्य' माने तेज-विरोधी। इनमें अपना तेज तो है नहीं (वोट से बड़े बनें लँगोटिये) ये तेजस्वियों से जलते हैं।"

"तुम कह क्या गए लीलाधरजी ?"

"गुरू महाराज ! हम-जैसी जनता के भोलेपन की हरियाली लतेड़ कर ये पॉलिटिशियन सरासर साँड़ बने हुए हैं। दर्शन-दृष्टि दोनों से। क्या कभी किसी घाट की सीढ़ियाँ ऐसी बारहबाट रही होंगी—खड़ी सपाट—जैसी इन जनता-जीवियों की लोभ-लालसा की सीढ़ी-पर-सीढ़ी दर-सीढ़ियाँ हैं। ऐसी फिसलनदार कि सभी फिसलें। रहा संन्यासी रूप, सो, इन छापा-धारी पॉलिटिशियनों से बड़ा 'सम' और 'न्यासी' हो कौन सकता है जिन्होंने त्याग की रौ में आर्यत्व, कुलीनता हया—ब्रह्मचर्य तक का त्याग करके दिखा दिया ?"

"किस पार्टी के पॉलटिशियन ?"

"वही पार्टी—गुरूजी,—जो शक्तिशाली है।"

"अर्थात ?"

"जिसके सदस्य आप स्वयं हैं।"

"था। हूँ नहीं, लीलाधरजी !"

"ओह ! आप सब समझ-बूझकर पूछ रहे थे;—समझ रहा था मैं। भला आप वर्तमान से भूत कैसे हो गए ?"

"मैं स्वयं में वह साहस नहीं पाता जो पॉलिटिशियनों में होता है...।"

"साहस ? और आप में नहीं ! कहिए अंगूर खट्टे रहे। टिकिट नहीं मिली...।"

"तो तुम्हें मालूम है सब...?"

"सी० आई० डी० मैं नहीं गुरू महाराज ! पर, आपके समाचार जानने की चिन्ता न होती, तो मैं दिल्ली में आपको ढूँढ़ कैसे निकालता? पहले चुनाव में आपने टिकिट पाने की चेष्टा की थी। दूसरे का मुझे पता नहीं।"

"पहले ही चुनाव में जिस तरह मुझे टिकिट नहीं मिली और जिन्हें मिली जिस तरह—उस तरहदारी को देख तुम अंगूर खट्टे ही कहो और यह किसी हद तक ग़लत भी नहीं; मैं हमेशा के लिये समझ गया कि वह राजनीति जिसमें भूल-भुलैया में डालने और पड़ने पर ही सफलता मिलती है मेरे बस-बूते की बात नहीं है। फिर मैंने कभी कोशिश नहीं की।"

"आप अच्छे रहे। बचे रहे। कमज़ोरी के कारण भी बचना, अक्सर, तपवत् हो जाता है। गुरू महाराज ! सारे-के-सारे बिक गये हैं। किसी ने पद लिये, किसी ने पैसे लिये, किसी ने परमिट प्राप्त किये। ग़र्ज़ कि जो भी पा सकने में समर्थ था उसी ने स्वराज्य के बाद, स्वदेशी मन्त्रों की साधना से पाकर विश्वास किया। आप करते क्या हैं ?"

"मज़े...मौज !"

"मज़े ? मौज ? गुरू महाराज ! जब मुझसे कोई यह कहता है कि वह मज़े-मौज कर रहा है तो मैं यह समझता हूँ कि न तो वह मज़े करता है, न मौज !"

"तुम मेरी कैसे बूझ सकते हो, लीलाधरजी ?"

"गुरू महाराज ! आपके चरणों के प्रताप से मैं भी बासठ वसन्त विलोके हुआ हूँ। मौज-मज़ा जब भवसागर में है ही नहीं—कैसे मानूँ कि कोई मौज-मज़े में है ?"

"आचार्य चतुरसेन ने बतलाया...।"

"जी—क्या ?"

"कि भं माने आकाश और...।"

"ग माने गामिनी। ओह ! बकस ही में भूल आया। काशी से आपके लिये ब्राह्मीवत्ती लाया हूँ।"

"तो तुम्हारी अभी छनती है ?"

"नित्य। मगर नाम-मात्र। मैं भंग को नशा नहीं मानता...।"

"मैं भी...।"

"क्यों...?"

"नशा है शराब। समुद्र-मन्थन में शराब निकली थी, भंग नहीं। पर, तुम भंग को नशा क्यों नहीं मानते ?"

"यह तो औपधी है—गुरू महाराज ! मन यानी पेट साफ़ रखने वाली, भूख-वर्धिनी...।"

"दारू माने जानते हो लीलाधरजी ?"

"क्या मतलब...?"

"फ़ारसी ज़बान में दारू माने दवा है। मतलब जो चीज़ जिसे रास आ जाय—औपधी है, दवा है।"

"ना ! मतलब—उचित मात्रा में लेने में उन्मादक-मद दारू है और सर फिरानेवाली भंग विजया है, औषधी है। लेकिन—गुरू महा-राज ! नशे के बारे में आपकी क्या राय है ?"

"आदमी नशा करेगा।"

"कोई-न-कोई...।"

"निश्चय ! मेरा दर्शन है...।"

"जी...।"

"कि वे नशे जो नशीली-वस्तुओं की लिस्ट के बाहर के हैं अधिक उन्मादक हैं। जैसे धर्म का नशा, प्रेम का नशा, दंभ का नशा, दाम का नशा...।"

"ग़र्ज़ें आप क्या नशा करने लगे संसार नशैलची हो गया...।"

"भर्तृहरि का एक पद है...।"

"जी...।"

"पीत्वा मोह-मयी-प्रमाद-मदिरा मुन्मत्त भूत्वा जगत् ।"

"बलिहारी ! आप गये, जग गया ! तो नशे का प्रचार होना चाहिए ?"

"कम-से-कम भंग का प्रचार हो और अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर हो। नशे की मद में मेरी यह गंभीर राय है।"

"नशे की मद में गंभीर राय भी हो सकती है ? हद हो गयी !"

"लीलाधरजी महाराज ! आज के विश्व की सारी गंभीर राएँ, मन्त्रणाएँ, पियाले-पर-पियाले चढ़ाने के आगे-पीछे ही होती हैं। विश्व के बड़े-बड़े राजनीतिक--बड़े दो, बड़े तीन, बड़े चार— अजी बिना पीए कभी किसी को सूझी है ? और पीते ही...।"

"वो सूझती है · ।"

"वो सूझती है कि सप्ताकाश की ! सूरज-चाँद से दो-चार। ये 'स्पुतनिक', ये 'एटलास'— सभी मत्त-मानव के मद-घट से छलके हुए ग्रह और उपग्रह हैं। वैज्ञानिक जिस अन्तरिक्ष के पार अपार धनसाध्य वज़नी-पदार्थ-पूर्ण राकेट में पहुँचता है, H २० महाशक्ति के सहारे, वहीं जो दिव्य-शक्ति दमड़ी और दस रगड़े में पहुँचा दे—आचार्य चतुरसेन कहते थे उसी का संस्कृत नाम है ...।"

"भं...ग ! वाह ! वाह गुरू वाह ! भंग-भवानी विचारों से तो सप्तावरण-भेद निस्सन्देह करती हैं।"

"हर बात पहले विचार-रूप ही में आती है। विधना ने पहले विचार किया होगा, फिर सृष्टि का विस्तार। जो वस्तु सहज ही विचार-विवर्धन करने में क्षम हो—जैसे नशा, जैसे प्रेम, जैसे भक्ति— वही अद्भुत और असंसारी-सारवान होती है।"

: ३ :

परिभाषाओं का पण्डित जो हो जाने परिभाषाएँ; मैं तो यह जानता हूँ कि असत्य वह श्रेष्ठ जो सत्य मालूम पड़े। जैसे—यह संसार। अतः कहानी की कल्पना की सुवर्ण-सार्थकता यथार्थता की कसौटी पर कसी जाती है। कहानी श्रेष्ठ वह जो झूठी होने के बावजूद सर्वथा सच्ची मालूम पड़े। लेकिन सामाजिक कहानी के सर्वथा-सत्य मालूम पड़ने में भारी खतरा यह होता है कि लोग अनुमान भिड़ाने लगते हैं : कि अमुक व्यक्ति या परिवार के बारे में तो अमुक कहानी या उपन्यास नहीं लिखा गया ? इसमें कभी-कभी लेखकों को झंझटतक में पड़ जाना पड़ता है। सो, इस उपन्यास में इतना तो मैं बतलाऊँगा कि यह काशी के उच्च-ब्राह्मण-कुल के एक भ्रष्ट-भविष्य, तेजस्वी-तरुण की वासना की बेहवास-प्यास की कथा है; पर, यह नहीं सूचित करूँगा कि वह उच्च ब्राह्मण-कुल पाँड़े लोगों का है या दुबे लोगों का अथवा मिसिर, सुकुल, तिवारी या त्रिपाठियों का ? यह काशी के भदैनी मुहल्ले की चर्चा है जिसका रस लेने के लिये हमें प्रथम विश्व-महायुद्ध के बाद की काशी के वातावरण में पैठना पड़ेगा। यानी सन् १९१९-२० की काशी के वातावरण में। सन् १९१९-२० की काशी में फिर भी २०वीं सदी उस तरह नहीं 'बस्सा' उठी थी जैसी कि आज की अवस्था है। हर शहर की—विदित बात है—कुछ विशेषताएँ होती हैं जो उसकी व्यक्तित्व-सी बन जाती हैं। बनारस की विशेषता थी दार्शनिक-फक्कड़पन। हर बशर की अपनी खाल में मस्त-मगन रहने की लगन। विशेष के लिये विशेष हाय-हाय नहीं; पड़ोसी का विशेष देख जलना-बलना तो बहुत बड़ी बात। साधारण ज़रीयों से जीवन की सूखी रोटी को चुपड़कर स्वादिष्ट बनाने का सारे समाज को सहज अभ्यास। कोपीनवन्त को भी देखकर धीमन्त-श्रीमन्तों ने सोल्लास कहा : खलु

भाग्यवन्तः ! खलु भाग्यवन्तः ! हिन्दी में और हिन्द में लँगोटी में फाग खेलने का मुहाविरा-मात्र होगा, लेकिन आह ! अभी गत कल तक की काशी में लख-लख अलख बनारसी अक्षरशः लँगोटी में फाग—कुछ सानुराग कुछ तटस्थ-भाव से—खेलते थे। यानी कुछ संन्यासी, विवेकी, विज्ञानी, सत्यतः सतत विरत होने पर भी जीवन-रत मालूम पड़ते थे। विलासी लोग थे ४० वर्ष पूर्व की काशी में और कम नहीं—पर, सच्चे आशिक़ भी थे, प्रेमी भी थे, भावुक-भक्त भी थे। आज की वाराणसी और गत कल की वाराणसी की मनोवृत्ति का भेद केवल एक अक्षर 'अ' से अदा किया जा सकता है। उस काशी में फिर भी सन्तोष था ; पर वर्तमान वाराणसी में असन्तोष-ही-असन्तोष है। तब मोटर नहीं थी, सिनेमा नहीं था, बिजली नहीं थी, ब्लैक नहीं था, डालडा नहीं था और आज़ादी नहीं थी। क्या ? आज की आज़ादी में बिजली की रोशनी है, मोटर की शक्ति है, सिनेमा की विविध चित्र-विचित्रता है (जीवन के ब्लैक स्क्रीन पर ही सुदर्शित)। साथ ही डालडा या वनस्पति घी वर्त्तमान के जीवन का आधार है। ज्यों-ज्यों आज़ादी निकट आयी और आयी त्यों-त्यों काशी का घृत—स्नेह— जैसे हलका पड़ता गया। और मन्त्र है "आयुर्वैघृतम्" (घृत आयु है)। कहूँ तो कह सकता हूँ कि मशीन का ज़ोर ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, त्यों-त्यों जानदार कमज़ोर होता गया। तब बिजली-सिनेमा-मोटर नहीं थी तो वो-वो गहरेबाज घोड़े थे, ऐसे-ऐसे Stud साँड़ थे, हथिनी-सी गजगामिनी गाएँ नज़र आती थीं, वो-वो छलकते-छैल 'बहरी अलँगी,' साफ़े-बाज़, डण्ड-पेल, जवानी के तूफ़ानमेल दिखायी देते थे—कि एक छब ! रईस थे सचमुच रईसी-राग के, टिपटापवाले, तरहदार, (हरम-विलासी ही नहीं) विचार-विलासी, सर्व-भोगी-दार्शनिक, 'फ़रज़न्दे इंगलिशिया-खास' तथा दूरन्देश, देश-भक्त भाव के रईस भी। वेश्याएँ थीं—हाँ—क्लासिक वेश्याएँ : सरस्वती, विद्याधरी, बड़ी मोती, राजेश्वरी, तौखी, मैना, छोटी

मोती, जवाहर, टामी। एक-से-एक नामीगरामी, गर्वीली-गलेबाज गायिकाएँ। केवल हलके-फुलके पद नहीं—ध्रुपद, धमार, मालकोस, मलार, बागेश्वरी-बहार, विहाग, फाग, राग-उपराग, हाहाकार गानेवाली अक्षरशः कोमल-कमनीय कलावन्तिनें। ध्वनि-विस्तारक-यन्त्र आज आया है—भोंड़ा; सहज-स्वर पाने में सर्वथा असमर्थ। लेकिन ४० वर्ष पूर्व की काशी की कलावन्तिनें ऐसी केकी-कंठिनी थीं कि कोसों तक उनकी तानें बिना किसी (ज्ञान या विज्ञान) व्यवधान अम्लान रूप से पहचानी जाती थीं। प्रशंसा-मुखर कनरसिया-बनरसिया कहते थे—"जैसे बड़ी मोती बुढ़वामंगल के बजड़े पर चैता ललकार रही है।" ४० वर्ष पूर्व की काशी शरदपूर्णिमा की चाँदनी में जादूनगरी-जैसी। नगरी आज भी वही है; पर, बिजली की जगमग जोत की ज़ियादती से, ज्योत्स्नावाला जागता जादू जैसे जाता रहा।

: ४ :

रत्नशंकर अपने वर्ग के ब्राह्मणों में अव्वल-दर्जे के अमीर थे। भदैनी में घाट-निकट उनका विशाल भवन था। बनारस में बहादुरपुर गाँव के निकट और मिर्ज़ापुर जिले में उनके बुज़ुर्गों से चली आती ज़बरदस्त ज़मींदारी थी। सैकड़ों बीघे ज़रखेज़ ज़मीन, बाग़, मन्दिर। भदैनी-भवन में गाएँ थीं, घोड़े थे। रत्नशंकर के पास जोड़ी की गाड़ी थी, टमटम था। ज़मींदारी के साथ ही लेन-देन का काम भी होता था। उस ज़माने के अनुसार लक्ष्मी उनके घर में बेड़ी पहनाकर बैठाई गयी थीं।

कमी थी रत्नशंकर को तो एक उत्तराधिकारी की। उन्हें मात्र

एक कन्या हुई थी जिसके बाद उनकी पत्नी ने गर्भधारण ही नहीं किया था। जाने क्या दैवी-माया-सी हो गयी। हज़ार प्रयत्न करने पर भी उस कन्या के बाद रत्नशंकर के यहाँ कोई बच्चा हुआ ही नहीं। फलत: रत्नशंकर की वह पुत्री अजरानी ही उनके सारे स्नेह की अधिष्ठात्री या पात्री रही। बड़ी, विवाहता, सन्तानवती हो जाने पर भी। अजरानी की दो कन्याएँ काशी में ही बढ़ी थीं और ननिहाल ही से उनकी शादी-सगाई सम्पन्न हुई थी। बेटा जगरूप यानी रत्नशंकर का नाती काशी में ही पैदा हुआ, नाना-नानी के अपार लाड़-प्यार में पला, वहीं हिन्दू विश्वविद्यालय का एम० ए० हुआ और बड़े ठाट-बाट से जीवन के पथ पर अग्रसर हुआ। नाना-नानी ने नवासे को ही गोद-जैसा ले लिया था।

लेकिन रत्नशंकर के एक छोटा भाई और था; रामशंकर। वह भी भदैनीवाले मकान मेंही रहता था: सम्मिलित परिवार में। और उसके लड़का ही नहीं, कई लड़के थे। रामशंकर अच्छा विद्वान और बुद्धिमान व्यक्ति था। विद्या-बुद्धि में रत्नशंकर रामशंकर से न्यून था। वह नहीं चाहता था कि पैतृक-सम्पत्ति का कोई भाग कन्या-कुलवालों के अधिकार में जाय। रत्नशंकर के बाद वह स्वयं को सभी सम्पत्ति का सर्वाधिकारी मानता था और फिर अपने पुत्रों को; न कि नाती-नवासे को। फिर भी, बड़े भाई का प्रकट-विरोध रामशंकर कदापि न करता। हाँ,यह ताड़ता रहता कि लिखा-पढ़ी-जैसा ठोस काम वह न कर पाये। ननिहाल में जगरूप जितने ठाट से रहता उसका चतुर्थांश भी रामशंकर के लड़के 'अपने बाप' के घर नहीं पाते थे। सूट-पर-सूट, रेशमी कपड़े, जेबख़र्च, बाइसिकिल, जगरूप के पास सब-कुछ। साथ ही, पूर्ण स्वतन्त्रता। रामशंकर के लड़के बाप के और कुल के रोब और मर्यादा में दबे-बँधे भदैनी-भवन के फाटक के बाहर क़दम न निकालते या निकाल पाते; पर, जगरूप ६ बजे सवेरे जो घर से निकलता तो अक्सर १० बजे

रात ही लौटता। नाना से अधिक जगरूप नानी का आदर करता था और नानी न कहकर उसे 'माई' सम्बोधित करता था।

मैं कहूँ कि रत्नशंकर का चरित्र निर्मल नहीं था तो कोई बड़ी उम्र बड़ा नाम, बड़ा भवन देखकर सन्देह न करे। क्योंकि बड़ा हो जाने से हर कोई भव-बन्धन-मुक्त नहीं हो जाता। ४० वर्ष पूर्व काशी में अनेक ऐसे बड़े आदमी थे जिन्हें भद्रता के केंचुल के अन्दर वासना का विषधर ही कहना उचित होगा। आदमी का दुर्बल होना सहज है, जैसे टट्टी-फ़रागत जाना। पर ऐसी दुर्बलता सरे-राह प्रकट करना सरासर अनुचित ही नहीं अक्षम्य-अपराध भी है ऊँचा बजकर भी रत्नशंकर भदैनी-भवन के कोटर के अन्दर मन्द-कर्म किया करता था। शिवाला मुहल्ले की जवान मालिन 'भरत बो' को लगाकर पंडित रत्नशंकर के कई कामुक-क़िस्से हैं। वह अक्सर दोपहर दिन को फूलों का हिसाब लेने आती—मासिक एक रुपया पाँच आने और रत्नशंकर उसको दुछत्ती में बुला लेता और हिसाब करता—हर महीने। तीन-चार दिनों से कम में एक रुपया पाँच आने का हिसाब न होता और घंटों लग जाते। सारा कुनबा ताड़ गया कि पंडितजी का वह हिसाब-किताब क्या था; पर, बड़ा रोब था रत्नशंकर का—इतना बड़ा कि उसके अपने भी सामने चूँ नहीं कर सकते थे। एक-एक आदमी जानता, एक-एक औरत जानती—घर का एक-एक बच्चा जानता कि दादाजी या नानाजी क्या पापड़ बेलते हैं। एक दिन जब रत्नशंकर की पत्नी जगरूप के सामने उस मालिन को कोसने-सरापने लगी तो जगरूप ने भी मन्द-मालिन के विरुद्ध मन-ही-मन कुछ निश्चय किया। और जब पंडित जी तहसील-वसूली के लिये सुदूर मिर्ज़ापुरी-इलाक़े पर गये, जवान जगरूप को मौक़ा मिला। मालिन हिसाब के लिये आयी तो वही उसे दुछत्ती में चढ़ा ले गया। सारा घर जान गया कि सुलच्छन ने क्या किया; क्या कराया कुलच्छनी मालिन ने। जगरूप की छोटी बहन को भी पता चला

—फिर भी, किसी ने मुँह से चूँ तक नहीं किया। बाल-बच्चे, ज़िम्मेदारी के बावजूद, जो लोग साधिकार मन्द कर्म-करते हैं वे अपने हाथों आने-वाली पीढ़ी के मुँह महा-माहुर-मदिरा का मारक-प्याला लगा देते हैं। इस कथा के नायक की तामीर में भी दुर्भाग्य के कुछ ऐसे ही बीज घर में ही पड़े थे। फिर बनारस का बहका वातावरण। विवाह होने के पूर्व ही जगरूप यौवन की सारी बदफ़ेलियाँ जान चुका था। उसके संग्रह में तीन-तीन कोकशास्त्र सचित्र थे जिनमें एक जयपुरी चित्रकार का बनाया हुआ था जिसे उसने अपने नाना के संग्रह से चुरा लिया था।

स्वतन्त्र-दिमाग़ के तरुण निर्बन्ध-जीवन में जैसे आज़ादी की बुराइयाँ सीख लेते हैं, वैसे ही कुछ भलाइयाँ भी उनके पल्ले पड़ती हैं यदि नितान्त मन्दभाग्य या बुद्धि न हुए। ऐसे लोग आत्मनिर्भर, समाज-विचरण-पटु हो जाते हैं। चित्रकार फणिभूषण के पुत्र अनिल की मित्रता में जगरूप ने दशाश्वमेध घाट के दुष्टताओं के अड्डे तो देखे ही, पर चित्रकारी भी उसे आकर्पित किए बग़ैर न रह सकी। हारमोनियम बजाने और गाने का शौक़ भी फणिभूषण के घर से ही जगरूप को मिला। अल्ताफ़ दर्ज़ी की दोस्ती में उसने दालमडी या वेश्या-बाज़ार तो देखा ही—लगे-हाथ कपड़े की कटिंग और सीने का काम भी ख़ासा सीख लिया। जगरूप को सबसे ज्यादा शौक़ नाटक—स्टेज का था। कालेज-जीवन में हिन्दू कालेज-हाल में उसके डाइरेक्शन में डी० एल० राय के 'शाहजहाँ', 'दुर्गादास' 'मेवाड़ पतन' नाटक बहुत ही सफलता से खेले गये थे।

जगरूप को पूरा विश्वास था कि वह नाना की सम्पत्ति का अधि-कारी होगा। इसी विश्वास के आधार पर उसने जवानी-जन्य अनेक मनसूबे बना रखे थे : कि सम्पत्ति पाते ही वह एक मोटर ख़रीदेगा—वह भी फ़ोर्ड नहीं, डॉज नहीं—ब्यूक गाड़ी और दुनाली बन्दूक का लाइसेन्स निकलवायेगा। और मोटर में माशूक़ को बैठाकर शिकार पर जायेगा।

उसे यह ज्ञात नहीं था कि छोटा नाना रामशंकर एन वक़्त पर उसके सारे मनसूबों पर पानी फेर देगा। अधरों तक लगे प्याले को छलका देगा।

और यही होकर रहा। रत्नशंकर जब बीमार पड़ा तब विलासियों की तरह बरसों बीमार रहा। फलतः उसके आगे ही सारा कामकाज रामशंकर सँभालता रहा। अन्तिम-काल निकट जान रत्नशंकर ने वकील बुलाकर रामशंकर के सामने आदेश दिया कि वह ऐसे इच्छापत्र का मसविदा तैयार करे जिसके अनुसार सम्पत्ति का उसका अंश उसके नाती जगरूप को मिले। इस पर रामशंकर ने बड़े भाई के मुँह पर तो रंचक विरोध भी नहीं दिखाया—लेकिन वकील को मिला लिया। कागज पर रत्नशंकर के दस्तखत प्रायः मरणासन्न स्थिति में कराये गए। यानी इच्छापत्र में जगरूप की चर्चा तक न आयी, सम्पत्ति और अधिकार तो दूर की बात। रत्नशंकर के गुज़रते ही भदैनी-भवन तथा उससे सम्बन्धित सम्पत्ति का अधिकारी रामशंकर था। रत्नशंकर की विधवा अब हद-से-हद ५० रुपये मासिक गुज़ारा पाने और क़ायदे से रहे तो रामशंकर की कृपा से अनाज वगैरह मुफ़्त पा जाने की अधिकारिणी रही गयी। इस तथ्य की गहराई जानने में जगरूप को देर न लगी।

: ५ :

दो दो साल से हिन्दू-स्कूल की एडमिशन परीक्षा में असफल होते-होते नन्दकुमार के नाकों दम आ गया था। इंगलिश और गणित दोनों ही उसके कमज़ोर थे। पारिवारिक-स्थिति भी दुर्बल ही थी। वह तो पढ़ना छोड़ देना चाहता था; पर करता क्या। सन् १९२१ में नन्दकुमार

पढ़ नहीं रहा था बल्कि पढ़ाई के दरिया में बह (क) रहा था—विवश। सो, महात्मा गांधी का असहयोग आन्दोलन उसके लिए वरदान-जैसा आया। फ़ेल वह इस बार भी होता और फिर स्कूल से निकाल दिया जाता, पर असहयोग आन्दोलन में 'आत्मा की पुकार' पर पढ़ाई छोड़ने से नन्दकुमार की लाज ही नहीं रह गयी शहीदाना-रुतबा भी बढ़ गया। क्योंकि असहयोग आन्दोलन के पहले—हवालात-जेल तो बड़ी चीज़ें—किसी के दरवाज़े पर पुलीसवाले की लाल पगड़ी-मात्र नज़र आ जाने से सारे मुहल्ले का ख़ून सूख-सा जाता था। जेल चोर-चीट-डाकू-हत्यारों की ही जगह मानी जाती थी। जहलख़ाना को लोग जहरख़ाना समझते थे। इसका सबब जेल के कष्ट तो थे ही यू० पी०—ख़ासकर पूरबी यू० पी० में—भारी भय माना जाता था। जाति-भ्रष्ट हो जाने तथा जात-कुजात के क़ैदियों की लात से साने हुए आटे की रोटी खाने आदि का। लोगों में यह भी धारणा जड़ पकड़ गयी थी कि जेलों में भंगी झाड़ू से पिटाई करता है। भूल या असावधानी से भी जेल जानेवाले को लड़की देना तो दूर की बात उसकी लड़की का पाणिग्रहण तक करनेवाले कठिनाई से मिलते थे।

किन्तु महात्माजी के आदेश से ब्रिटिश-राज्य का अन्त करने के लिए जब भारत का और काशी का जन-समुदाय कारागार भरने पर आरूढ़ हो गया तब बड़े-बड़े तीसमार ख़ाँ नौकरशाही-कर्मचारी भी एकबार चकित हो घबरा-से गये। क्योंकि इन नये क़ैदियों के संसर्ग से जेलों के दायमी-बन्दियों के भी बिगड़ने का अन्देशा था। सो, यू० पी० सरकार ने प्रान्त की कुछ जेलें केवल राजनीतिक बन्दियों के लिए रिज़र्व करने का सक्रिय-निश्चय किया। ऐसी ही जेलों में काशी के चौकाघाट मुहल्ले में स्थित ज़िला-जेल भी थी। उसमें यू० पी० के अनेक ज़िलों के राजनीतिक बन्दी तीन बड़ी-बड़ी बैरकों तथा विशेष क्वार्टरों में रखे गये थे। इनके साथ ही लोकल बन्दियों का खेवा-पर-

खेवा पुलीस के काले 'वानों' में भर-भरकर चौकाघाट की जेल में रोज़ ही उतारा जाता था।

नन्दकुमार रहता था भदैनी, पर गिरफ़्तार हुआ चौक कोतवाली के सामने; सत्रह जवानों की एक टोली का नेतृत्व करते हुए। लोग कोतवाली की हवालात में इकट्ठे किये जाते और वहीं खड़ेघाट नामक पारसी मैजिस्ट्रेट उनका आनन-फानन निर्णय करता। जो कोई भी कहता कि वह असहयोगी स्वयंसेवक या वालण्टियर है उसे महीने-डेढ़-महीने की सज़ा सुनायी जाती थी। पर, जितने लोग वालण्टियर-रूप से हवालात में पकड़ लाये गये थे उनमें सभी न तो कांग्रेस के स्वयंसेवक थे, न देश-भक्त, न राजनीतिज्ञ। बहुत से तफ़रीहन या प्रवाह में बह आये थे—बिना समझे कि सत्याग्रह के क्या मानी, क्या मानी अहिंसा के। उनमें जितने 'डिस-ओबीडियन्स' के लायक थे उतने 'सिविल' कहलाने के लायक नहीं। उनमें एक गुण्डा था, पुराना जेल-पक्षी जो लड़कों को जेल जाते देखकर न जाने किस उत्साहवश स्वयं भी पुलीस की पकड़ में पड़ गया था। मैजिस्ट्रेट ने जब उससे पूछा कि वह वालण्टियर है ? तो उसने भुजा फटकारते हुए सुनाया : आलण्टियर-वालण्टियर नाहीं—बोल महात्मा गान्धी की जय! वैसे जो हवालाती अपने को स्वयंसेवक नहीं स्वीकारता था, मिस्टर खड़ेघाट उसे छोड़ दिया करते थे; पर इस गुन्डे ने जो भुजा फटकारते हुए जोश-भरा उद्धत जवाब दिया तो जैसे मैजिस्ट्रेट बिदक-सा गया और उसे भी छः हफ़्ते के लिए कठोर-कारा-दण्ड दे ही डाला। उसी झुण्ड में जिसमें नन्दकुमार था : हवालात में एक निर्वासित अफ़गानी 'शाहज़ादा' भी था। सरकार से गुज़ारा पानेवाला—लेकिन परम उन्मत्त, प्रायः पागल। लंबा, चीमड़, चट्टा, गोरा, केसरी-मूँछें, भेड़िये-सी ख़ूँख़ार चमकदार आँखें, महा उजड्ड, महा निर्भीक। जब उसके केस की बारी आयी तो हवालात के जंगले के पास डटकर वह मैजिस्ट्रेट के मुँह पर सिगरेट के धुएँ की फूकें मारने लगा। "तुमको मालूम नहीं ?" मैजि-

स्ट्रेट से उसने तीव्र-स्वर में कहा : "जब मैं काबुल में था तुम-जैसे दर्जनों मेरे नौकर थे।" खड़ेघाट साहब ने उसे भी छः महीने की सख्त सज़ा दी। नन्दकुमार की छः हफ़्ते की सज़ा हुई। वह मन-ही-मन सहमा हुआ था कि क्या मालूम जेल में क्या गति होगी, पर चौकाघाट ज़िला कारागार में पहुँचने पर उसे वहाँ काशी के एक-से-एक नामी-गरामी नेता, कार्यकर्त्ता और तरुण नज़र आये। साथ ही सारी यू० पी० के कई सौ अरुण-तरुण-स्वराज्य-कामी भी वहीं थे। उसी जेल में थे कृपलानीजी, सम्पूर्णानन्दजी, परमहंस राघवदासजी। कृपलानीजी तो अपने 'गान्धी आश्रम' के पचासों तरुणों से सुसेवित, सदल-बल थे। कृपलानीजी नन्दकुमार को जानते थे। उसे अन्दर देखते ही उन्होंने पहले जगरूप के बारे में पूछा :

"तेरा संगी अभी आया नहीं ?"

"वह तो दादा, लखनऊ है; व्याकुल भारत नाटक कम्पनी की मैनेजरी सँभालता। गिरफ़्तार होने के पहले जगरूप को लताड़-भरा एक पत्र तो मैंने डाल दिया है; पर, वह शौक़ीन जीव है—जेल जाना शायद ही चाहे।"

"एक-से-एक शौक़ीन जीव जेल जा रहे हैं—गान्धी के जादू से जेल खेल हो रही है। जगरूप भी आता ही होगा। पढ़ा नहीं तूने ? अरे विचित्र !" कृपलानी ने विचित्रनारायण शर्मा को सम्बोधित कर सुनाया : "नन्दकुमार को ज़रा कल का अख़बार तो देना।"

लखनऊ के दैनिक 'संग्राम' में व्याकुल-भारत थिएट्रिकल कम्पनी के बारे में समाचार था, सचमुच विचित्र—कि पाँच-सौ दर्शक जब थिएटर-हाल में बैठ गये तब मैनेजर श्री जगरूप ने मंच पर आकर घोषित किया कि चूँकि मैजिस्ट्रेट ने नाटक के आरम्भ में वन्देमातरम् गाने पर पाबन्दी लगा दी है, अतः खेल 'अपना देश' नहीं दिखलाया जायगा। फिर भी, वन्देमातरम् तो गाया ही जायगा। कम्पनी के

मैनेजमेंट ने निश्चय किया है कि हमारे सभी कार्यकर्त्ता एक जुलूस बना कर 'वन्देमातरम्' गाते हुए सारे लखनऊ की परिक्रमा करेंगे। यह हमारा राष्ट्रीय गान है। इसके लिये कोई भी बलिदान हम सहर्ष करने को तैयार हैं।"

इस घोषणा का परिणाम यह हुआ कि जुलूस निकालने के पहले ही अधिकारियों ने व्याकुल-भारत कम्पनी के सभी कार्यकर्त्ताओं को गिरफ़्तार कर लिया। उन पर स्थापित सरकार के विरुद्ध बद-अमनी के षड्यन्त्र का केस चलाया गया। सज़ा दी गयी। पहले एक अफ़ग़ान प्रिन्स की चर्चा हो चुकी है। हवालात ही में उसका आचरण—बकना, मैजिस्ट्रेट के मुँह पर धुआँ उड़ाना—नन्दकुमार को अनुचित लगा था। सत्य, अहिंसा का अर्थ नन्दकुमार ने भी उस गंभीरता से न समझा हो जिस गंभीरता से गांधी ने समझाया था; फिर भी, वह पक्षपाती था सत्य-अहिंसा ही का। इधर जेल में आने पर भी शाहज़ादे का वही असत्य, और हिंसक भाव रहा। उसको—अक्सर—अगम्भीर राजनीतिक-रँगरूट घेरे रहते और वह प्रायः बराबर धुआँधार बकता रहता: "अंग्रेज़? अंग्रेज़ बिलकुल बदज़ात, बेईमान होता है। हम अफ़ग़ानी लोग अंग्रेज़ को साँप से बदतर—नमाज़ छोड़कर मारने काबिल मानते हैं। क़सम ख़ुदा की! आज़ादी के जंग में हम गोरेबच्चे का ख़ून पीयेंगे—ख़ून! हरामियों के टुकड़े-टुकड़े करेंगे।"

"मगर शाहज़ादा साहब, यह तो अहिंसा नहीं—हिंसा हुई।" नन्दकुमार के निकट बैठे एक बनारसी नें सुनाया। इस पर नन्दकुमार ने उसके कान में कहा:

"बकने दो, बोलो मत, पागल है!" "क्या कहा? क्या कहा?" राक्षस की तरह दाँत किटकिटा, बिल्लौरी-आँखें चमका—धमकाने के स्वर में काबुली-शाहज़ादे ने नन्दकुमार से पूछा और फिर बक चला:

"कृपलानी के चेले! ऐसे कृपलानी और ऐसे चेले—जब मैं काबुल

में था—मेरे यहाँ घास खोदते थे।"

शाहज़ादा को पता नहीं था कि कृपलानीजी उसके पीछे ही मौन खड़े उसकी बहकी बातें पहले तो मुस्कराते, फिर मन-ही-मन खुनसाते सुन रहे थे।

"इसने मुझे पागल कहा—कृपलानी कंगाल के चेले ने! मैं कृपलानी की बोटी-बोटी काट कर रख दूँगा—क़सम खुदा की!"

जैसे अब कृपलानीजी का धैर्य जाता रहा। वह सामने आ रहे: "शाहज़ादा साहब! तमीज से बातें करें। वरना याद रखें कृपलानी ऐसा अहिंसक नहीं कि कोई कुछ बके वह सुनता रहे—दाहने पर लगे तो बायाँ गाल सामने करे। मैं भी क्षत्रिय हूँ।" और कृपलानी की दृष्टि अपने पैरों के खड़ाऊँ पर गयी। शायद उनका दाहना हाथ भी दाहने पाँव की तरफ अनायास बढ़ गया। उसी समय: "जय! जय हो दादा कृपलानी की!" कहता हुआ कोई सवा-छः-फुटा जवान जेल के फाटक में दाखिल हुआ। उसकी लम्बाई-चौड़ाई, बड़े केश, रोबीले-फ़ेस से अफ़-ग़ानी शाहज़ादा सहम-सा उठा: "कैसे-कैसे चेले इस कृपलानी के!"

आगन्तुक कृपलानी-भक्त कोई अन्य नहीं—लखनऊ में सजा पा-कर बनारस पहुँचाया गया—व्याकुल भारत नाटक कम्पनी का मैनेजर, भदैनी का विचित्र-ब्राह्मण, तरुण जगरूप ही था।

"क्यों रे, बहुरूपिये!" 'दादा' कृपलानी ने सप्रेम पूछा! "यह रूप भी तूने न छोड़ा?"

जगरूप ने कृपलानी की चरण-वन्दना की।

: ६ :

इस लेखनी से सन् १९२१ के उस राष्ट्रीय महाजागरण काल की काशी के चौकाघाट ज़िला-जेल की घटनाएँ दसियों बार लिखी गयीं होंगी, लेकिन उपन्यास में पहली ही बार उतारी जा रही हैं इतने दिनों बाद जब अनेक आज़ाद घटनाओं की मस्ती परसों के नशे की तरह दिमाग़ से उतर गयी होगी। आन्दोलन और धरपकड़ आरम्भ होने के महीने-भर-तक तो काशी की चौकाघाट-जेल वैसी ही थी जैसी अन्धकार ब्रिटिश-राज के तत्कालीन-वातावरण में होनी चाहिये थी : जाग्रत नरक। काल-काले रंग का चौगिर्द बोलबाला ! कंबल काला, लोहा काला, तारकोल काला, वार्डरों की वर्दियाँ काली। काले लोहे के तसले में पड़ते ही महा-काली दाल, गला हुआ झलरा, अधकाली और लात से सानी आटे की रोटियाँ। जात-पर-जात-कुजात-अजात सबकी एक पाँत। पाखाने खुले हुए। बैठनेवाले एक-दूसरे को निर्लज्ज देखते, सबको दूर से वार्डर देखता। वार्डर की निगरानी में आबदस्त लेने की व्यवस्था। गले में लोहे की हँसली में लटकता तौक़ जिस पर क़ैदी की सज़ा और छूटने का दिन इशारों में अंकित। आन्दोलन के महीने-दो-महीने में सज़ा पानेवाले मनस्वी मर्दों के सामने उपरिलिखित सारी मुसीबतें आयीं और बदाबदी आयीं लेकिन इसके बाद ही आज़ादी के दीवानों का वह रेला जेल में आया—रेले-पर-रेला—कि बेड़ियाँ कहीं पड़ी रहीं—तौक़ कहीं। और सारा जेलख़ाना एक बड़ा बाज़ार मालूम पड़ने लगा। विविध-जाति के भारतीय भाँति-भाँति के वेश में। शूद्र उसमें, द्विज उसमें। जैसे धोबी घाट पर हर जाति के पहरन-चोले एकत्र हों—जीवन, निर्मलता-धवलता के उज्वल-मोह में। मालूम पड़ता था जैसे राजाधिराज के घर बारात आयी हो। कमज़ोर-से-कमज़ोर असहयोगी बन्दी भी महान साम्राज्य के जोर से भी डरता नहीं

था। उस वक़्त, उस जेल में जिसमें पाँचसौ के क़रीब तो राजनीतिक क़ैदी थे और साधारण क़ैदी ६०-७०—राजनीतिक बन्दियों के भोजनादि सेवाओं के लिये। शेष अराजनीतिक क़ैदी चौकाघाट जेल से हटा दिये गये थे। भीड़ बढ़ जाने पर राजनीतिक क़ैदियों ने जेल के भंडारे पर अधिकार जमा लिया था। फलतः उन्हीं की निगरानी में अपराधी क़ैदी हाथ से आटा गूँध, बढ़िया दलिया, दाल और सब्ज़ी—और जेल के विशाल तवे पर दो-दो दर्जन दिव्य रोटियाँ एकसाथ सहर्ष तैयार कर देते थे। जेल के 'चक्कर' में पड़नेवाले चारों दरवाज़े तथा बैरकों के फाटक बराबर खुले रहते थे। सारे दिन और आठ बजे राततक राज-नीतिक क़ैदी एक से दूसरी बैरकों में आते-जाते रहते। ऐसा लगता था जैसे कुंभ या अर्ध-कुंभ का पर्व लगा हो और साधुओं की जमातें जुड़ी हों; जिनके महन्तों के आसनों के सामने भक्तों की भीड़ लगी हो। महन्त थे कृपलानी, सम्पूर्णानन्द, परमहंस राघवदास-जैसे तेजस्वी, प्रौढ़, तरुण-साधक। शेष साधारण क़ैदी-भक्त थे। उन असाधारण पुरुषों के बाद भक्तों की भीड़ भड़कीले अफ़ग़ानप्रिंस की गिर्द भी रहती थी जिससे उत्साहित हो वह अधपागल पूर्ण-पागल-प्रलाप धाराप्रवाह करने लगता : "काबुल में, हमारे अफ़ग़ानिस्तान में, देखते-ही अंग्रेज़ बच्चे की बोटी-बोटी उड़ा देते हैं और मिमियाती मेमों को पकड़कर पहाड़ों की गुफाओं में ले जाते हैं—हरामज़ादियों को पहले हरम और फिर ग़ोर में सील-बन्द रखने के लिये।" अफ़ग़ानी शाहज़ादा-जैसा हास्य-प्रद-रूप मुसलिम-ढंग से प्रकट करता था, हिन्दू-दल में भी उसीकी जोड़ का बदायूँ यू० पी० का कोई बहका हुआ ब्रह्मचारी वालण्टियर था जो अपने नाम का परतला लंबे गैरिक डगले या कुरते पर धारण करता था जिस पर लाल कपड़े के बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था : "वालण्टियर बाबा बाँके-बिहारी ब्रह्मचारी, बदायूँ, यू० पी।" यानी ब्रिटिश गवर्नमेण्ट मेरा कर क्या सकती है! मैं इस तरह पूरा पता सीने पर लिखकर सूचित करता

हूँ कि मैं हूँ...हूँ मैं कांग्रेस का वालण्टियर। और यह बाबा बाँके-बिहारी ग़ैर-ज़िम्मेदारी के रूप थे। छै-फुटे, बड़े केश, दाढी, बड़ी-बड़ी अर्धलाल और डोरेदार कड़ी-कड़ी आँखें, चपटी नाक, पतले और अन-वरत फड़कते होंठ। इस साधु-वेशी वालंटियर को लेक्चर भाड़ने का रोग था और लेक्चर भी जोश से भरा — होश से ख़ाली। जब-तब जिस-तिस बैरक में बिना इसकी पर्वा किये कि कोई सुनता भी है, वह अपना भीषण-भाषण शुरू कर देता : "सज्जनो, मेरे प्यारे भाइयो और बहनो! हिन्दुस्तान की आबादी ६८वे करोड़, जिसमें से जलियानवाला बाग़ में ५६ करोड़ आततायी जनरल डायर की मैशीन-गनों से भून दिये गये। इस क्रूर-कर्म का कुफ़ल यह हुआ कि ३६ कोस पृथ्वी नीचे और ३६ कोस आकाश ऊपर लाल-लाल — लाल हो गया !"

दुर्भाग्य से एक दिन लेखक नन्दकुमार ने बाबा वालंटियर बदा-यूनी को टोंक दिया कि "महाराज, जब हिन्दुस्तान की सारी आबादी तेतीस ही करोड़ है तब ५६ करोड़ जलियानवाला बाग़ में कैसे मारे गये ? फिर आप जितना तेज़ और उत्तेजित बोलते हैं उससे हिंसा दरसती है जबकि हमारा आन्दोलन अहिंसात्मक है।" फिर क्या था। बाबा बदायूनी मुँह से आग उगलते लेखक पर टूट ही पड़े। वह तो बीच में जगरूप आ रहा, लपककर उसने बाबा बिगड़ैल के पाँव पकड़ लिये— 'बर्रे-बालक एक सुभाऊ, इनहिं न सन्त विदूषहि काऊ'—यह, क्या जाने आपके गंभीर भाषण का रहस्य।"

इस बदायूनी वालंटियर की बराबर यही शिकायत रहती कि राजनीतिक क़ैदी लोग जिस भाव से कृपलानी, सम्पूर्णानन्द, राघवदास आदि के प्रवचन सुनते उसी तरह उसको क्यों नहीं सुनते ? और वह ऐसे सभी बंदियों को बेवक़ूफ़ समझता। परमहंस राघवदास और बदायूनी एक ही बैरक में थे। दोनों वक़्त जब सुपठित बन्दी तरुण परमहंसजी से गीता का प्रवचन सुनते तब, मारे डाह के, वह परतला-

धारी बंगड़ ब्रह्मचारी अपनी 'बर्थ' पर खड़ा हो जाता और वही ५६ करोड़ी- भाषण शुरू करने के पहले वन्दना-गान की तरह गाने लगता :

> **बाबाजी जेलख़ाने पड़े होंगे...**
> **मोरे सैयाँ जेलख़ाने पड़े होंगे ।**
> **मोरे राजा जेल... !**
> **जंगले, जंजीरों में बेड़ियों में होंगे**
> **चूतड़ों पर डंडे पड़े होंगे !**
> **मोरे सैयाँ जेलख़ाने—मोरे राजा जेलख़ाने,**
> **बाबा जी जेलख़ाने पड़े होंगे ।**

आगे कहा जा चुका है, क़ैदियों के लिये काशी के नागरिक किसी-न-किसी बहाने खाने की विपुल सामग्री जेल में बराबर भेजते थे । तिल-संक्रान्ति के दिन चावल, दाल, तिलवे, मिठाइयाँ, साग-सब्ज़ियाँ, घी, दूध, दही, फल वग़ैरह बाहर से इस प्रचुरता में आये कि राजनीतिक क़ैदियों के साथ ही अपराधी क़ैदियों और लुक-छिपकर जेल के अधिकारियों तक ने कचराकूट किये । उस दिन जेल के खाते से बन्दियों पर एक छिब्बा भी खर्च न हुआ; सो, उसके बदले में, सुबह, राजनीतिक क़ैदियों ने नक़द पैसे माँगे । पर जेलवालों ने गंभीरता से लाचारी प्रकट की । क्योंकि ऐसा कोई नियम था नहीं । सत्याग्रही कृपलानी वग़ैरह के नेतृत्व में अड़ गये । जेल के अधिकारियों ने सदर्प सूचित किया कि इस माँग पर तूल देना भूल होगी । "भूल हो या कुछ हो, हम तो अपना हक़ वसूल करके ही छोड़ेंगे ।" किसी तरुण ने सत्याग्रहियों की मनोवृत्ति की सूचना दी ।

नित्य ही जिस तरह सैकड़ों नये सत्याग्रही-बन्दी चौकाघाट जेल के अन्दर आते थे, वैसे ही, दर्जनों क़ैदी सजा समाप्त कर—छूट कर—बाहर भी जाते थे । तिल-संक्रान्तिवाली रक़म को लेकर पंजे लड़ ही गये । उस दिन जेल के अधिकारी नाक रगड़कर हार गए, पर 'बच्चन'

नामक रिहाई के एक क़ैदी का चारों बैरकों में पता ही न चला। इतना ही नहीं, हर बैरक में दर्जनों सत्याग्रही स्वयं को 'बच्चन' बतलाने लगे।

जेलवाले परेशान हो गये। उन्होंने नेताओं की मदद बच्चन की तलाश में माँगी। पर, सबकी ओर से दादा कृपलानी ने व्यंग्य से मुस्कराते हुए एक ही जवाब दिया: "खेद है, बच्चन के बारे में आप लोगों से हमारी जानकारी ज़र्रे बराबर भी ज़्यादा नहीं।" इस पर एक बनारसी नेता शायद पं० कृष्णचन्द शर्मा ने अधिकारियों को सहास्य सुनाया कि यह भारतवर्ष है। यहाँ पुराकाल से जब भी कभी संकट पड़ता है तब उसका निवारण यज्ञ द्वारा ही किया जाता है। अतः तुम लोग बच्चन-प्राप्ति के लिए यज्ञ कराओ।

"मगर जेल के फ़ण्ड में यज्ञ के लिए कोई व्यवस्था नहीं है।" जेलर ने परेशान होकर कहा।

"तुम तिल-संक्रान्तिवाले पैसे दिला दो—पचास और एक इक्यावन नक़द--देखें बच्चन बेटा कैसे नहीं प्रकट होता।" कृष्णचन्द्र शर्मा ने पुनः हँसते हुए कहा।

और जेल में १०० क़ैदी मर जायँ तो सौ मच्छर मरे लेकिन एक अधमरा क़ैदी भी भाग जाय तो शेर भाग गया। सारे स्टाफ़ पर संकट तबादले, तनज्जुली तथा तरह-तरह की बेतरह तकलीफ़ें—"बाबा, मैं अपनी जेब से इक्यावन रुपये दे दूँगा"—जेलर ने कृपलानीजी से मिन्नत के लहजे में कहा—"अभी लीजिये! जमादार! बड़े बाबू से रुपये माँग-लाकर महात्मा (कृपलानी) जी को दे दो।"

"मगर बच्चन का पता रुपये आने से नहीं लगेगा"—किसी काले-कलूटे सत्याग्रही ने सुनाया—"यज्ञ होना ज़रूरी है।"

दूसरे दिन सचमुच जेल में यज्ञ हुआ। बड़े-बड़े नेता—सम्पूर्णानन्द, राघवदास, कृपलानी—कोई यजमान बना, कोई पुरोहित, कोई कुछ,

कोई कुछ। सारी जेल—अभागिनी, अछूत—यज्ञ-धूम से सुगन्धित हो उठी और तब 'बच्चन' नाम का बन्दी मिल गया।

लेकिन जेल के अधिकारी इस घटना से चिढ़-से गये। दूसरे ही दिन से उन्होंने क़ैदियों को अपनी-अपनी बैरक में रहने और वैरकों के द्वार यथा-विधि बन्द रखने का आग्रह जोरदार किया।

: ७ :

वार्डरों की संख्या दुगनी कर दी गई। साथ ही सत्याग्रहियों को सूचित किया गया कि वे जेल मेनुअल की सीमा में आचरण करें और अपनी-अपनी बैरक में रहें। 'चक्कर' की तरफ़ से चारों वार्डों के ताले बन्द कर दिये गये तथा सोटाधारी की जगह बन्दूक़धारी वार्डर तैनात कर दिये गये।

इसको सत्याग्रहियों ने पशु-बल का प्रदर्शन घोषित किया और इसके सामने झुकने से एकस्वर में अस्वीकार कर दिया। एक भी बन्दी बैरक में बन्द होने को राज़ी न हुआ। जमादार आग्रह कर हार गया, डिपुटी जेलर हार गया, जेलर भी हार गया और यह कहता हुआ सदल-बल फाटक के दफ़्तर की तरफ़ बढ़ गया कि इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। जेल में प्राप्त आप लोगों की रही-सही सुविधा भी छिन जायेगी।

"सुविधा कुछ दान में नहीं मिलती कि कोई छीन लेगा। आप जो चाहें करें।" मौलाना रहमतुल्ला ने जवाब दिया। यह वार्ड नं० ३ की घटना है। जेलर के जाते ही सारे क़ैदी गोलाकार एकत्र हो निर्भय मनोविनोद करने लगे। जैसे : सीतापुर के एक छरहरे कवि ने यह तुक-

बन्दी सुनायी और मौलिक लहजे से :—

सग मोहन के
गोपजन बनके
नैन अंजन के
रे निरंजन के !
साध जीवन के
त्याग—ज्यों तिनके
भावना सनके
बांसुरी सुनके
चल पड़े तनके
मस्त रे बनके !
स्थाप उत्तम को
काटने तम को
साथ संयम के
सामने यम के
भावना सनके
चल पड़े तनके
मस्त रे बनके !

सीतापुरी-कवि के बाद बनारस कबीरचौरा मुहल्ले का कत्थक लीलाधर आवेश-भरा दर्शकों के बीच में कत्थकी 'आमद' मुद्रा से आया और एक पुराना 'परन' मुँह और चरणों से अदा करने लगा—

श्रवण सुन्दर नाम गणपति ज्ञाननाथ गजाननं
धिग् धान धिकिट धधिन तकत
क्रतिक लंबोदर एकदन्त धा !
क्रतिक लंबोदर एकदन्त धा !
क्रतिक लंबोदर एकदन्त धा !

लीलाधर की तीसरी 'धा' पर सारे-के-सारे क़ैदियों—यहाँ तक कि—नेताओं के मुँह से भी सहसा 'धा' निकल गई। इसी समय चक्कर के फाटक से मिलिटरी की तेज़ आवाज़ आयी—जेल का सुपरिन्टेन्डेन्ट मेजर हार्वे फाटक पर सदल-बल खड़ा था। ज़रा ही देर बाद कृपलानीजी की पुकार हुई।

"देखिये मिस्टर कृपलानी! आख़िर यह जेल है! इन्हें बैरकों में बन्द होना ही पड़ेगा।"

"बन्द तो हम लोग नित्य ही किये जाते हैं—मगर साढ़े नौ बजे रात के बाद। आजतक सारे दिन बैरकें खुली रहीं तो सरकार का क्या नुक़सान हो गया, असमर्थ हूँ समझने में मैं।"

"मेरे पास फ़ालतू-वक़्त नहीं है—मिस्टर कृपलानी...।"

"फ़ालतू-वक़्त है किसके पास मेजर...।"

"क़ैदी बैरकों में न गये और हमें बल-प्रयोग करना पड़ा तो ज़िम्मेदारी आपकी होगी।" मेजर हार्वे ने कर्कश सुनाया।

"मेजर हार्वे!" कृपलानी ने व्यंग्य-मुस्कान के साथ सुनाया, "हम लोग जब बलवान ग्रेट-ब्रिटेन से सत्याग्रही-पंजा लेने पर कमर कसे तैयार हैं तब आप तो उसके एक अदना पुर्ज़ा-भर हैं ...।"

इस पर सुपरिन्टेन्डेन्ट ने जेलर की तरफ़ कुछ संकेत किया। फाटक खोला गया; साथ ही, पचासों वार्डर अन्दर पिल पड़े। बरजोरी—बहुतों को उठा-उठाकर—बैरकों में पहुँचाया गया। पशु-बल जब जोश में आया तो उसने आला-अदने का विवेक नहीं किया। सत्याग्रही-नेता लोग भी बलात बैरकों में पहुँचाये गये।

कृपलानीवाली बैरक में ताला बन्द करने के पूर्व जेल-जमादार बंदियों की गिनती करने लगा। एक-दो-तीन...पचास...पचपन... छप्पन...। होना चाहिये सत्तावन! जमादार पुनः गिनने लगा। एक...दो—छप्पन! पर "एक क़ैदी कम है।" अब नायब जेलर ने गिनना शुरू किया। फिर

भी वही छप्पन । लाचार वह कृपलानी की शरण आया ।

"महात्माजी, एक क़ैदी कम हो रहा है ।"

"देख लो भाई, जितने हैं यहीं हैं— फिर राजनीतिक क़ैदी भागने के लिये अपनी मर्ज़ी से जेल नहीं आये हैं ।"

"क़ैदी नहीं मिलेगा, संख्या सही नहीं होगी, तबतक बैरक बन्द हो कैसे सकती है ?"

"तुम कहो मैं उठकर गिनती कर दूँ । पर आदमी जितने हैं उतने ही तो होंगे ?"

"एक कोई कम है ।"

"इसके लिए मैं क्या कर सकता हूँ ? आदमी को यहाँ कहाँ छिपाया जा सकता है ? तलाशी ले लो !"

साढ़े नौ बजे रात तक गिनती-पर-गिनती होती रही, पर सत्तावनवाँ आदमी नहीं मिला । तब जगरूप ने उठकर कृपलानीजी से कहा :

"इन लोगों ने हमारे महान लेखक नन्दकुमारजी उर्फ़ नन्दन को तो गिना ही नहीं !"

"कहाँ है कम्बख़्त...राइटर...?"

"वह देखिये..." जगरूप ने अपनी तथा नन्दकुमार की बर्थों के बीच की 'झिरी' में बैठे लघु-काय लेखक को दिखलाया : "मुझे याद ही न रही और यह बर्थ पर टँगी मेरी टाँगों के बीच रैपर के अन्दर ख़र्राटे ले रहे थे । मैं पुस्तक पढ़ने में मशगूल था ।" थोड़ी देर रुक, कृपलानी का रुख देख दुष्टता से वह मुस्कराया ।

"याद रहे !" जगरूप ने मजाकाना अदा से कहा : "महाशय नन्दकुमार उर्फ़ 'नन्दन' मामूली लेखक नहीं हैं, जिनकी ज़रा पलक झप जाने से लन्दन की साम्राज्य-शक्ति सवा अढ़ाई घंटे तक किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनी रही ।"

इसके दूसरे ही दिन चौकाघाट ज़िला-जेल का सियासी-जमघट

भंग कर दिया गया और विविध सज़ाओं के सत्याग्रही-बन्दी एक बार पुनः प्रान्त के विभिन्न कारागारों में विभाजित कर दिये गये।

और चौराचौरी-हिंसा-काण्ड हुआ, जिसके फलस्वरूप गान्धीजी ने फ़ुलस्पीड-आन्दोलन के तूफ़ान-मेल पर फ़ुल-ब्रेक लगाया। ऐसी त्वरा से कि सारा रेलारेल हलहला उठा। आन्दोलन की ट्रेन उलट-सी गयी। *सारे देश में निराशा और सन्नाटा छा गया। विदेशी प्रभाव का* प्रेत पुनः प्रचण्ड-ताण्डव करने लगा।

: ८ :

यह मटन-मार्केट यानी मान्स का बाज़ार है। बम्बई के मशहूर, सुन्दर उपनगर सान्ताक्रूस की रेलवे-क्रासिंग के पास उन दिनों अच्छा-सा मान्सों का बाज़ार था। उस बाज़ार के फाटक के आस-पास कई कसाई नौजवान अलःसुबह ही आ जाते और गाँजे के दम लगाते या चरस-भरी सिगरेटें पीते थे तबतक जबतक नौजवानी से फुदकती, अध-नाचती, हाथ में झोला या बाँस की चँगेरी लिये वह साँवली क्रिश्चयन नौकरानी छोकरी अपने सेठ के लिये मटन वग़ैरह ख़रीदने को आ न जाती। उसे देखते ही सब-के-सब क़साई-कुमार धृष्ट-भाव से उसको घेर लेते :

"भेजा चाहिये...तो भेज मुझे ! तू क्यों तकलीफ़ उठाती है ?"

"कलेजा चाहिये तो मैं (ला) दूँ ?

"सीने से लगती हो तबीअत...मैं हाज़िर करूँ ?"

"ग़ज़ब रे ! अभी तो बारे ख़ुदा बारही बरस के हैं ?"

"तेरा नाम ? नाम आज बतला दे कि माला जपा करूँ ?"

सचमुच वह क्रिश्चियन लड़की बारह-बरस से विशेष की नहीं दिखती थी। उसने चमककर नाम बतलाया :

"तेरी माँ....!"

"अच्छा मेरी माँ ! तेरा नाम ?"

"तेरी बेन...।"

वह उन आवारों की तरफ़ ऐसे ओठ सिकोड़ती जैसे उन पर थूक देगी और बदमाश बिखर जाते। वह मार्केट में उसी तरह नाचती, निर्भय घुस जाती।

"कैसी ज़ालिम...!"

"कैसी कमसिन...!"

"क्या नाम ? कहाँ काम करती है ?"

"इसकी माँ एक बोहरा बड़े आदमी के यहाँ खाना पकाती है। जुहू के पास बंगला है। सैकड़ों नौकरानियाँ गोश्त लेने आती हैं, पर यह तो छोकरी है कि आफ़त ! एक दिन चरस के नशे में चकाचक चूमने को जी चाहता है। बला से नतीजा कुछ हो।"

"ऐसी छोकरियों से भी ज़बरदस्ती ज़रूरी है क्या जिनके लिये चाकलेट, टाफ़ी, एक एकन्नी-दुअन्नी काफ़ी है।

"क्या कहते हो ?"

"मैंने तो अभी परसों दाँतों में चवन्नी दबाकर इससे कहा मूँ से ले सके तो ले ले ! और इसने तड़न, ताबड़-तोड़,अपने मूँ से मेरे ओठों में दबी चवन्नी ले ली। लेकिन अब फिर जो मैं उसे चूमने को लपका तो अँगूठा दिखाकर हरामिन नौ-दो-ग्यारह हो गयी।"

"क़सम ख़ुदा की!" एक ने चमककर सुनाया—"मेरे होठों से ले, तो मैं रुपया देने को तैयार हूँ—चोटीदार, कलदार !"

"अबे चल बे चण्डू-चट्टू !" चवन्नीवाले ने सुनाया—"रुपया चोटीदार कभी तेरे बाप ने भी देखा है ?"

"देखा साले !" एक ने बीच ही में सुनाया -"कैसी तीखी गाली दे गया ? जिसके बाप का कोई ठिकाना ही नहीं—उसका बाप बखान गया।"

"हा-हा-हा-हा !"

"क्या कही है। वह देखो, आ रही है ! यह जब जवान हो जायगी तब क्या होगा ? अभी से दिलफेंकुओं का खून जोश खा रहा है।"

"जी करता है...!"

"पहले मुझे कहने दे...जी करता है...!"

"अबे पहले मुझे कहने दे...जी करता है कि साली को नरम काकड़ी की तरह अक्खी-की-अक्खी खा जाऊँ।"

"इसकी माँ को नहीं देखा ? अगर यह नरम काकड़ी है, तो वह कटीला-फानस—कटहल का फल ! मोटी, काली, दाँत बड़े-बड़े, नाक चिपटी, आँखों की जगह गोल-गोल गड्ढे। उसको तो दिनदहाड़े चुड़ैल समझ कर आदमी भाग पड़े और रात में तो सरासर चुड़ैल। बड़ी लड़ाकी। तुम लोगों के नेक इरादे अपनी छोकरी के बारे में उसे मालूम पड़ जायँ, तो एक-एक के सर पर वह डंकिनी की तरह डकारने लगेगी। इसकी माँ को देख लोगे तो फिर इसकी साया से भी तौबा-तौबा करोगे।"

"जब माँ की इतनी गा गया तब बाप की भी गा जा...!"

"बम्बई की ऐसी छोकरियों के बाप की तमीज़ करना जिनकी माएँ नौजवानी से ही सेठों की खिदमत में गदराई और बुढ़ाई हैं, मामूली काम नहीं...।"

तबतक वह लड़की मार्केट से 'बाज़ार' लेकर इनके सामने से गुज़री; परम प्यारी दुष्टता से तेज़-तेज़ ताकती हुई।"

"अरी...!" एक ने रोका।

"ओरी की तो ऐसी-वैसी मिस्टर !" वह तमकी—"भले आदमी की तरह नाम लेकर पुकारना सीखो। मेरा नाम है मिस मरियम रोज़।"

"क्या नाम ?" एक ने धूर्त्त-भाव से सुनाया, "मेस्मरेज़म ? भाई क्या नाम—जैसा नाम वैसा काम···मेस्मरेज़म करना।"

"मेस्मरेज़म नहीं—जंगली कहीं के !—मिस मरियम रोज़···।"

"अच्छा, चवन्नी मैं अपने मूँ में दबा दूँ ?"

"चल ! छोकरी छलककर छः फुट दूर जा रही। चवन्नी-जैसी तेरी सूरत भी हो। चवन्नी जिनके पास होती है वे मार्केट के अन्दर फटीचरी नहीं करते।" वह चन्द कदम और सड़क की ओर बढ़ गयी। तबतक एक गुण्डे ने दाँतों में चवन्नी दबाकर उसे आकर्षित किया ही: "देख ! नई चवन्नी है।"

"चल ! चालबाज़ ! धेले पर क़लई करके मुझे ठगने चला है···।"

"चाँदी की है और चमाचम्म !"

"चल !" वह ऐसे बोली जैसे चवन्नीवाले को निकट बुला रही हो। "मुझे तो इतनी दूर से साफ़ कलईदार धेला नज़र आ रहा है।"

वह आवारा जब यह साबित करने के लिये उसके निकट गया कि चवन्नी चवन्नी है, तब वह चंचला बिजली की तेज़ी से उसके होठों से चवन्नी झपट कर नौ-दो-ग्यारह हो गयी और चवन्नीवाले का मुँह दुकड़हे-सा रहा गया !

चवन्नी-चरित्र सुनकर मिस रोज़ की भीषण माता उस पर नाराज़ नहीं हुई। चवन्नी उसने स्वयं लेते हुए पुत्री को उपदेश दिया—"चवन्नी नहीं अभी तो दिन-दिन तुझे जवानी-पर-अफीम खानेवाले बम्बई के मर्द क्या-क्या रक़में देंगे। पर जब मैं तेरी उम्र की थी, तब किसी बात के बदले में किसी मनचले से कुछ नहीं लेती थी और लेती थी तो ऐंठ

कर। उन्नीस बरस तक तो कोई मेरे इस तन को हाथ तक नहीं लगा सका था। तू तो अभी तनक-सी है; भले लग गया हो पन्द्रहवाँ तेरा। कहे देती हूँ, ख़बरदार जो कभी सौदा किया। पूछ तभी तक रहेगी जब तक मर्द से बची रहेगी। मर्द बराबर ख़राब होकर भी अरसे तक ज्यों-का-त्यों चिकनाघड़ा बना रह सकता है। पर, औरत का लटकना फाँसी पर लटकना होता है। तू मेरी लड़की—कलेजी, ख़ून है—जिस दिन जानूँगी, तू किसी मर्द पर जान देती है—जानें सेन्ट जॉन—मैं तेरी जान लेकर रहूँगी।"

ग़र्ज़ेकि अपनी माता की सहमति से मिस मरियम रोज़ जवानी की दहलीज़ पर नाचते-क़दम रखते ही मनचलों को ललचाकर, बनाकर अन्नी से, चवन्नी से, अठन्नी से रुपये तक ऐंठने लगी लेकिन नितान्त धूर्त्त-बुद्धि से स्वयं को पुरुषों के गंभीर आक्रमणों से बिलकुल बचाती हुई। फिर भी रोज़-रोज़ अनर्थ साधनेवाले को एक दिन फँसना ही होता है और अच्छी तरह से।

वह फँसी तो सान्ताक्रूस की पुलीस से। एक दिन शाम को मिस रोज़ किसी मनचले को जब बना रही थी, एक हवलदार दूर से ताड़ रहा था। ज्योंही उससे कुछ ऐंठकर वह भागने पर आमादा हुई त्योंही हवलदार ने ललकारा। वह थर्रायी, डरी, काठ-सा मार गया उसे। अब तो हवलदार ने धर पकड़ा : "राँड, यह फ़ोरस रोड है ? किसकी लड़की है ? चल चौकी पर ?"

हवलदार मराठा था, जिसके पास ही एक और सादा पुलीसमैन भी था। उसने उसी को वह लड़की सौंप दी—इसको चौकी पर ले चल ! मैं अभी आता हूँ—देख, कोई तंग न करे।"

"तुम कहाँ जा रहे हो ?" सादे पुलीसमैन ने हलवदार से पूछा।

"मैं जॉनबुल बार से अभी आता हूँ।"

सो, मिस रोज़ को पहली बार ऐसे पुरुष से पाला पड़ा : सान्ता-

क्रूस पुलीसचौकी की हवालात में, सारी रात, कि वह तिलमिलाकर रह गयी। उसे ऐसा अनुभव हुआ जैसे बरसों की दुष्टता का दण्ड एक-ही रात में दण्डदाता ने दे दिया। उसकी माँ को ख़बर दूसरे दिन किसी दिल-फेंक क़साई ने दी। तब—अपने सेठ की बड़ी कोशिश-पैरवियों से लड़की का लथपथ-उद्धार किया गया।

मिस रोज़ को पुरुष का पहला परिचय पुलीस चौकी में सारी रात जो मिला उसका स्वाद सुहावना उसे न लगा। मगर, मैं यह नहीं कह रहा कि उसके मन में कौमार्य का आदर था। सतीत्व के रहने-जाने का ग़म उसे नहीं था। अफ़सोस था तो यह कि वह पुरुष के चंगुल में पड़ कैसे गयी। वह बोहरा सेठ भी जिसके यहाँ मिस रोज़ की माँ रसोईदारिन थी, इसी प्रतीक्षा में था कि लड़की सयानी हो तो माता से प्रस्ताव करे। पर पाजी पुलीस ने पहले ही पहल कर दिया। पुलीस से रोज़ के छुड़ाने में सेठ के ३००) रुपये लगे तो और भी बात बन गयी; बिल्ले के भाग छींका टूटा। अन्यथा रोज़ की माता बरसों से मन-ही-मन तय किये बैठी थी कि सेठ ५० का हो, ५५ का, लड़की १५ की हो, १६ की; करोड़पति की कृपा, बंबैये-विलासी की कृपा, सुनहली और रुपहली होती है। फलतः पुलीस-काण्ड के बाद रोज़ी का बाज़ार जाना प्रायः बन्द हो गया और बोहरे सेठ ने उसे अपनी ख़ास सेवा में स्वीकार कर लिया।

सो, पुलीस के बाद दूसरा पुरुष भी जो रोज़ी को मिला वह नेक तो था—अनेक उपहार देनेवाला—पर, प्रौढ़-कामी, निपुण रस-लोभी, सेठ की सेज पर भी स्वाद या सुख का अनुभव उससे कहा हुआ। और उसे लगा जैसे दण्ड ही वह बराबर पाती जा रही हो। पहले पुलीस की बर्बरता से, अब माता के लोभ और आश्रयदाता के काम से। सेठ की सेवा में उसे भोजन-कपड़ों की सुविधा सहज थी। फिर भी एक घुटन-सी उसे होती थी, यातना-सी। अक्सर उसके मन में

आता था कि ऐसी माता को छोड़ वह कहीं और भाग जाय कि ऐसे रस-हीन-जीवन से नजात मिले। फिर भी, अदना मजदूरन लड़की, जवानी की ललचीली ड्योढ़ी पर आकर्षक खड़ी, कोई कुशल-प्रद जगह उसे वैसे ही नजर नहीं आयी जैसे गृद्ध-चीलों से भरे जंगल में चटकाली चिड़िया को। और रोजी ने मन-ही-मन माता मरियम की मानौती की कि वही उसे नजात दिलावे इस नीच घुटन-भरे वातावरण से।

बहुत दिनों बाद बारे उस दिन उसकी माँ ने सान्ताक्रूस के बाज़ार से कुछ लाने को भेजा। बहुत दिनों बाद जैसे व्याकुल पंछी को पिंजरे के बाहर की हवा का सुखद सामना हुआ। वह जैसे अनायास ही सही सड़क से बहक-सी गयी। सान्ताक्रूस मार्केट छोड़ रेलवे लाईन पार कर सन्दिग्धमन मगर उसी तरह फुदकती चिड़िया की तरह वह उस तरफ़ बढ़ी जिधर मिलिटरीवालों की बैरकें थीं। पर कुछ दूर जा, कुछ सोच, वह पुनः पीछे मुड़ी और एक दूसरी सड़क की तरफ़ बढ़ी। तभी पीछे से उसको किसी ने पुकारा :—

"आया—ओ आया!"

पीछे मुड़कर रोजी ने देखा तीन सूट-बूट-धारी आदमी—एक के हाथ में बड़ा-सा पका हुआ कटहल।

"मैं पूछता हूँ—फानस साफ़ करना तुमको आता है? छुरी हमारे पास है, प्लेट भी है, पर यह फल साफ़ कैसे किया जाता है, हम नहीं जानते।"

"अच्छा! फानस साफ़ करना तुम नहीं जानते—!" वह आश्चर्य चंचल हँसी—"मैं कर दूँगी। कहाँ है छुरी?"

"बिलकुल पास ही—" दूसरे ने सुनाया "वो देखो वहाँ! लोग बैठे हुए हैं न…?"

"हम लोग 'रायल फ़िल्म स्टूडियो' वाले आउट डोर तस्वीर लेने आये हैं।"

"ओह ! फ़िल्मवाले !"

वह उन तीनों के साथ यों हो रही जैसे हरे घसियारों के साथ बाल हरिणी।

और वह ज़रूर साँवली थी, पर चेहरा रोज़ी का कटवाला था। वह नाटी थी; फिर भी यौवन ने कटि, नितम्ब, सीना सभी अंग परम सुडौल बनाये थे। यह मैं किसी को लुभाने-बहकाने के लिए नहीं लिख रहा। जब रोज़ी कटहल साफ़ करने लगी तब फ़िल्म डाइरेक्टर और कैमरा-मैन ने उसके सारे अंगों की पड़ताल कर डाली। उससे ज़रा दूर हट उन्होंने आपस में राय भी ज़ाहिर की—

"स्वीट सिक्सटीन···।"

"और अछूती···।"

"चेहरा तो इसका फ़िल्म-लायक है।"

"उससे भी ज़ियादा फ़िल्म कम्पनी के मालिकों के लायक है।" डाइरेक्टर ने कहा।

और अबकी अबवाले जानें तब वह ज़माना था जब फ़िल्म डाइ-रेक्टर बनाने में ख़ासी औरत सरासर सफलता की देवी साबित होती थी। सारे दिन और निःसन्देह आधीरात तक शराबें पीते हुए औरतों को अपनी सनकों पर चाँदी के तार में बाँधकर कोक-कठ-पुतलियों की तरह नाचते हुए फ़िल्म कम्पनियों के अधिकतर मालिक फ़िल्में प्रोड्यूस किया करते थे। तब वह ज़माना था जब बम्बई में देसी-विदेसी शराबों और ताड़ी की त्रिवेणी दर-दर बहा करती थी जिसमें सर्वांगस्नान कर भक्त लोग संगम-पुण्य लूटा करते थे। कृपया भूलें नहीं—यह चर्चा तीस-पैंतीस साल पूर्व की है।

"फानस तो ख़ूब तुमने साफ़ किया।" "अब डाइरेक्टर उससे अकेले बातें कर रहा था। "कितने पैसे दूँ ?"

"पैसे ?" वह ऐसे मुस्कराई अधरोष्ठ संकुचित कर जैसे पूछती हो कि को इन ओठों का रस चखोगे ?

"तो क्या रुपया ?"

"रुपया ?" उसने अँगड़ाई ली। डाइरेक्टर को जैसे हवा में लेलो अशर्फ़ी दिखा दो बदन ! सुनाई पड़ा।

"तो क्या मामूली कटहल साफ़ करने की कीमत रुपये से भी विशेष ? ना बाई ! यह इन्साफ़ नहीं। यह एक रुपया लो। इससे ज़ियादा भी तुम्हें मैं दे-दिला सकता हूँ बशर्ते कि इस फ़िल्म में एक छोटा-सा करेक्टर प्ले कर सको।"

फ़िल्म में काम ? रोज़ी मन ही मन नाच उठी—इसके लिए तो वह प्राण तक दे सकती थी। पर "मामी" उसको अपनी विभीषणा जननी की याद आयी।

"फ़िल्म में काम कर तो लूँ—पर मेरी मामी मंजूर नहीं करेगी।

"तुम छोड़ो मामी को ! मैं सब देख लूँगा। चलो हमारे साथ ।"

"मगर मामी···।"

"मारो गोली ! मज़दूर लड़की को मामी उसकी जवानी से कुछ कमा लेने के सिवा और क्या दे सकती है ? तुम्हें तो—मंजूर हो तो—मैं अपनी पत्नी तक बना सकता हूँ !"

"क्या ?" रोज़ी ने डाइरेक्टर की तरफ़ ऐसे देखा जैसे कहती तो हो "झूठ !"

"सच कहता हूँ।" डाइरेक्टर ताड़ गया कि मछली फँसेगी—"और सवूत देता हूँ। यह मेरी जड़ाऊँ अंगूठी—देखो तुम्हारी अंगुली में आती है ? माँसे मत डरो—। मैं बचा लूँगा।"

यानी शाम को जब फ़िल्म-पार्टी लौटी, रोज़ी डाइरेक्टर की मोटर में थी। स्टूडियो में आते-आते रात के आठ बज गए। स्टूडियो पहुँचने

पर रोज़ी ने देखा कि जहाँ "सेट" लगा हुआ था वहीं गोलमेज़ की चारों ओर बैठे कोई आठ-दस आदमी शराब पी रहे थे। उनमें से एक-एक ने उसकी तरफ़ ऐसे देखा जैसे वह चिकन की प्लेट हो। डाइरेक्टर रोज़ी को एक मोटे, लम्बे-तड़ंगे आदमी के निकट ले गया। "रुस्तम सेठ ! यह हिरोइन नयी लाया हूँ। चलेगी ?"

"चलेगी नहीं, दौड़ेगी ?" किसी दूसरे मद्यप ने कहा : "शूँ नाम छे ?"

"मिस रोज़ ?"

"भई वाह ! नाम क्या रसीला—जैसे बोसा !"

"इसे मेरे कमरे में पहुँचाओ !"

स्टूडियो के दूसरे खण्ड पर रुस्तम सेठ का प्राईवेट रूम था। "सेठ ने पसन्द कर लिया। तुम क़िस्मतवाली हो। यह सेठ का अपना कमरा है। आज तुम इसी कमरे में आराम करो। कल मैं अपनी फ़्लैट में ले चलूँगा। कोई डर की बात नहीं है।"

डाइरेक्टर चला गया। थोड़ी देर बाद एक छोकरा रोज़ी के लिये बढ़िया खाना—कई डिशों में—और थोड़ी-सी लाल शराब रख गया। और रोज़ी ने खाना ही नहीं खाया, दारू भी पीली। फिर दरवाज़ा लगा सेठ के सुन्दर, अति सुखमय बिस्तरे पर वह लेट रही। डाइरेक्टर देखने में सुन्दर और जवान, साथ ही गर्म-दिल था। रोज़ी को सचमुच वह पसन्द आ गया था। उस क्षण भी वह उसके निकट होता तो वह सुखी ही होती। क्योंकि पुलीस और बोहरा सेठ के दुर्गन्धित-रगों से वह बहुत ही दुखी थी। रुपये-कपड़े की भूख उसकी उतनी तेज़ नहीं थी जितनी एक विश्वस्त, सुन्दर जीवन-साथी की। डाइरेक्टर की सुखद चिन्ता में ही रोज़ी को नींद आ गयी;—जैसे घनघोर बेहोशी की।

और नींद ही में उसे लगा जैसे कोई जबरदस्त प्राणी उससे बलात्कार कर रहा है। पर नशे से दुर्बल उससे बोला या चिल्लाया—

विरोध तक न किया जा सका। शायद वह मूर्छित हो गयी।

उसकी नींद खुली कोई आठ बजे दिन—तो क्या देखती है कि रायल फ़िल्म स्टूडियो का मालिक रुस्तमजी उसकी बग़ल में भैंसे की तरह पड़ा खर्राटे ले रहा है। उसने उठने की कोशिश की तो देह काँटे सी दुखती मालूम पड़ी। शक्ति समेटकर उठी तो पलंग से नीचे गिर पड़ी। सामने देखती है बड़े आईने में अपना चित्र तो—नंगी, बिखरी; ओठ सूखे रस-रहित, गालों पर दाँतों के निशान और सीने पर नाख़ूनों की कितने ही खरोचें।

"हरामी !" कुम्भकर्ण की तरह पड़े रुस्तम को ताक कर उसने स्वगत कहा और चारोंओर ऐसे देखने लगी जैसे उस नर-पशु को मारने के लिये कोई शस्त्र की उसे ज़रूरत हो।

रात के खाने के बरतन अभी वहीं पड़े थे जिनमें छुरा भी था, काँटा भी। सहसा छुरा उठाकर उसने रुस्तम के सीने की तरफ़ ताना : सोते में जैसे हरामी ने मेरा ख़ून पीया है वैसे ही, क्यों न सोते ही में मैं भी ? क्यों न ? इसका ख़ून कर डालूँ ?

और उसने हुमक कर वार करने को हाथ ऊँचे उठाया। पर, हाथ उठते ही उसे सान्ताक्रूस की पुलीसचौकी की याद आयी। थर्राई वह और गज-भर पीछे हट गयी। उसके हाथ से छूटकर टेबुल का छुरा 'थप्प' आवाज़ कर उठा जिससे रुस्तम सेठ जाग पड़ा। पर, उसका ध्यान छुरे की तरफ़ नहीं गया। उसने रोज़ी की नंगी बाडी-मात्र देखी और उठते ही जैसे कामासक्त हो गया।

"इधर आ साली !" रुस्तम ने रोब से कहा। कपड़े तो पहन ले···।"

"देख !" रोज़ी ने रुस्तम को अपना तन तकाया : "कैसा कचरा कर डाला। हरामी ! क़साई !"

"बके मत !" रुस्तम ने स्त्री-स्वभाव-परिचित-भाव से कहा, "तू

खुद ही तो फ़िल्म में काम करने को आयी है। इस धन्धे में वैसी लाज-शर्म व्यापार के विरुद्ध है। तुझे फ़िल्म में काम करना है कि नहीं ?"

"नहीं।" रोज़ी ने तनककर कहा।

"अरी साली ! मोटी पगार मिलेगी; चारों तरफ़ जाहिरात होगी; दुनिया तुझे देखने को आयेगी; तू कभी रानी बनेगी, कभी देवी; कभी नवाब-ज़ादी, कभी शाहज़ादी। हर मेकप में नये कपड़े-नये-नये ज़ेवर, ज़री की साड़ियाँ—पहले तू बाथ में मुँह-हाथ धो आ ! और फिर सही दिमाग़ से जवाब दे। इस कम्पनी के दो भागीदार हैं। मैं और अहमद सेठ बोहरा। मैं जब तुझे हिरोइन चुन लूँगा—तब अहमद सेठ 'ना' नहीं करेंगे। कहाँ मज़दूरन की लानती जिन्दगी, कहाँ फ़िल्मस्टार का बहारदार-जीवन और कष्ट-कसाला की कहे तो बिना कसाला मसाला नहीं तैयार होता, तू जानती है।

वह साइलेन्ट फ़िल्मों का युग था—हाँ; —मिस रोज़ की नियुक्ति एक पिक्चर में काम करने के लिये साढ़े सात-सौ रुपये पर हुई। साथ ही, ढाई-सौ नक़द एडवान्स भी दे दिये गये। कहाँ आवारों की चोंच से चवन्नी का चाटना, कहाँ फ़िल्म की ऐय्याशी और ढाई-सौ एडवान्स। रोज़ी-राज़ी होने के लिये ही आई थी। लेकिन पहली तस्वीर 'पन्ना दासी' के बनने में पूरा वर्ष लग गया और पूरे वर्ष तक रोज़ी को कभी रुस्तम और कभी अहमद सेठ के साथ कड़ी रात बितानी पड़ी। बेशक उसे उपहार, हार, अँगूठियाँ, साड़ियाँ दोनों तगड़े प्रेमी देते रहे; पर पिक्चर बनी एक ही।

और उसी एक के बाज़ार में आने से फ़िल्म-व्यापार में रोज़ी के लिए राज-मार्ग-सा खुल गया। 'इम्पीरियल कम्पनी' से उसे आफ़र, 'शारदा कम्पनी' से उसे आफ़र—'रणजीत' वाले उसे हाथों-हाथ लेने को तैयार। फिर भी अकेले आगे बढ़ने की ताक़त अबला रोज़ी में न थी। अतः बुद्धिमानी से उसने उस डाइरेक्टर को नहीं छोड़ा—चिपकी ही

रही। बाहर ऐसा समझा जाता कि वह डाइरेक्टर श्रीलाल की पत्नी है। दोनों एक ही फ्लैट में साथ-साथ रहते थे। पर दोनों ही एक-दूसरे के सहारे अपना-अपना धन्धा करते।

अब रोज़ी दो-दो हज़ार कलदार के कान्ट्रैक्ट पाने लगी। फिर तो उसके क्रिश्चियन दर्ज़ी बाप ने मन-ही-मन और धर्म-मन्दिर में भी जाकर प्रभु और उसके एकलौते बेटे को नमन किया और विभीषणा माता ने माता मरियम को। दोनों ने दोनों ही की कन्दील की आरती उतारी। वे, हर महीने, रोज़ी से सैकड़ों रुपए ले आते। वह इन्हें श्रद्धा से रुपए न देती और चटपट देकर झटपट भगा देती कि कोई यह न समझ सके कि उसके माता-पिता ऐसे बीभत्स और बेपोज़ीशन के आदमी हैं।

: ६ :

लीलाधर कत्थक का 'करेक्टर' मेरे मते इस कथा की विशेषता नहीं है। यह कथा तो ३५ वर्ष पूर्व की काशी—'भदैनी' के तरुण ब्राह्मण-कुमार जगरूप का पाठक-जगत के सामने रखने के लिए रची जा रही हैं; पर बहुत अंशों तक प्लाट कपोल-कल्पना कम, जीवित चरित्रों के जीवन-संघर्ष पर अधिक आधारित होने से नाटक में जिसका जितना भाग और प्राण है, देना ही पड़ेगा।

लीलाधर वैसे भी महा-मनोरंजक आदमी। पिछले परिच्छेदों में उसकी ऐसी-ऐसी बातें आयी हैं कि अनायास ही कोई उसको गंभीर विचारक और ज्ञानी मान ले—होती भी थीं उसकी बातें गंभीर-अनुभव और काल-ज्ञान-भरी हुई, पर लीलाधर को भी—सौ-में-सौ की तरह—काल और वेदना ने ही बुद्धिमान बनाया था। होता क्या है

कि अच्छा अथवा सफल गुणी, कालानुसार, जब दुःख या वेदना पाता है : कोरी कल्पना के आगे जब कठोर-सत्य आता है तब उसे चेतन का चाबुक-सा लगता है और वह अक्सर, पानीदार घोड़े की तरह चमककर तेज़ हो पड़ता है। आरम्भ में लीलाधर कत्थक की आचार-संहिता में सदाचार नाम मात्र को भी नहीं था। बत्तीस साल की वय तक तो उसने ब्याह ही नहीं किया था और बाज़ार ही सूँघता, रस लेता रहा। वेश्याओं को सिखलाता, उन्हीं के यहाँ मुजरे बजाता और फिर अव्वल-जान की कोठी की कमाई, दोयम-जान के कोठे पर उड़ा आता।

ब्याह भी सोच-विचारकर लीलाधर ने कहाँ किया था। किसी वेश्या के साथ बारात में वह सारंगी-वादक बनकर जयपुर गया था। वहीं से एक कत्थक की जवान और बड़ी ही सुन्दरी लड़की उड़ा लाया। 'शोभा' उसका नाम था। वह लीलाधर के रूप और गुण पर मोहित होकर विवश चली आयी थी। वह बड़ी ही वफ़ादार लड़की थी। दोनों बराबर कबीरचौरा मुहल्ले में पति-पत्नी की तरह रहते थे। कुछ दिनों तो लीलाधर शोभा का अनुरक्त-भक्त जैसा था—दो वर्षों तक; बस। इसी बीच शोभा के एक पुत्र पैदा हो चुका था। अब लीलाधर एक नयी वेश्या का दीवाना-परवाना बना जो ऐसी ज़ालिम माशूक़ा थी कि उसने लीलाधर के छक्के छुड़ा दिये—अपनी—फँसाऊ-अदाओं में उसको जकड़कर वह—रुपये-पर-रुपये और गहने पर-गहने माँगती—और वह देता। गा कर देता, नाच कर देता। कोठे-कोठे सारी रात बजा कर देता। फिर भी वेश्या माँगती ही जाती और जब न पाती तो लीलाधर से बुरे-से-बुरा बर्ताव करती।

उसने औरत के गहने बेचकर वेश्या की फ़रमायशें पूरी कीं; घर गिरो रखकर ज़र दिये और कुछ नहीं रह गया तब सुन्दरी शोभा को वेश्या बनाने का विचार किया। उसको फ़रेब देने, फुसलाने लगा कि वह नाचना सीख ले और बाज़ार में बैठ जाय। फिर तो सारे बनारस के

आशिक़ उसको हाथों-हाथ उठा लेंगे, सर-माथे पर। लीलाधर के इस प्रस्ताव पर घृणा और क्रोध से शोभा ने थूक दिया। बोली : "ज़हर खाकर मर जाना बेहतर है बाज़ार में नाचने से।" लीलाधर ने कहा : "अच्छा बाज़ार के लिए न सही, पति की आज्ञा से उसके प्रसन्नतार्थ तुम नाचना सीखो। किसी और से नहीं, मुझी से—।" मगर वह टस-से-मस न हुई। लीलाधर ने आवेश में उस बेचारी को गालियाँ दीं, धमकियाँ दीं, जूतों से पीटा तक; पर, वह बराबर नाचने से नटती ही गयी। उसने कहा —"मैं तुझे प्यार करती हूँ। तू मुझे मार डाल रे क़साई! मैं तुझे ही प्यार करूँगी। तू मेरी जान ही पर आमादा है तो अब मैं भी बहुत जीनेवाली नहीं—। लेकिन ओरे—ओरे अन्यायी? मैं तुझे छोड़ूँगी नहीं। फिर—फिर मिलूँगी।"

और दो साल का बेटा रोता छोड़कर शोभा अभागिनी, एक शाम, अपने कपड़ों पर मिट्टी का तेल छिड़कर हो—हो होली की तरह सरासर सती हो गयी थी। सारे कबीरचौरा मुहल्ले में हंगामा-सा उठ खड़ा हुआ था। घर-गृहस्त औरतें सन्नाटे में आ गयी थीं : मर्द हैरत में। सिपाही आये थे, पुलीस आयी थी। तब लीलाधर ने रोने का नाटक करते हुए पुलीस से यही कहा था कि शोभा का दिमाग़ कुछ सनक-सा गया था। अक्सर बकती-झकती थी। उसी सनक में, उसने मेरी ग़ैरहाज़ारी में, ख़ुदकुशी कर ली है।

मगर मुल्लू कत्थक के घर एकत्र मुहल्ले की औरतों की चर्चा कुछ और ही थी :

"इसी मौत-पड़े ने सता-सताकर बेचारी को जल-मरने को लाचार किया और अब मर जाने पर कहता है कि सनक गयी थी। इसकी पगड़ी में आग लगे।"

"वह भी तो महा हठीली थी। नेक लुगाई थी तो क्या हुआ। अरे खाविन्द कहता था तो नाच लेती! यह भी कोई जान देने की

बात थी ? हम कत्थकों के लिए तो गाना-बजाना-नाचना ही सब-कुछ हैं। यही देव, यही पित्तर !"

"चलो बहन !" एक कत्थकिनी ने कहा—"तुम बे-सर-पाँव की—ऊहुँक ! —अन्याय की बातें करने लगीं। उसने ठीक किया कि मर-मिटी मगर शान, मान, आन के खिलाफ़ काम नहीं किया। आखिर अभागिनी शोभा थी तो राजस्थान की जौहरी-मिट्टी की बनी हुई-मर गयी, नाची नहीं। कत्थकों के यहाँ गाना-बजाना-नाचना धर्म है —माना; पर मर्दों का न कि औरतों का…।"

"क्या धरम !" एक ने नाक सिकोड़कर कहा—"यह मौतपड़ा धन्धा किसे भरपेट भरमहीने देता है ? इसी कबीरचौरे में ऐसे कितने कत्थक हैं जिन्हें खाते-पीते आसूदा कहा जा सके ? इस धन्धे पर फिट-कार है, किसी शय की। जिसने भी हाथ में तंबूरा लिया, उसी के करम में भिखारीपन ! निशाचरी-वृत्ति : दिन में सोना, रात में रंडियों के समाज में, साज-बाज में जागना। कहते हैं गाना, बजाना, नाचना ऐसा हुनर है कि जानकार पत्थर पिघला दे, पानी बरसा दे, दीवाली जग-मगा दे। ऐसे हुनर का ज्ञानी रईसों के आगे यों दाँत दिखाता है जैसे आदमी में न मान हो न तेहा।"

"क्या बहन !" लछमन कत्थक की मोटी महिषी ने विवाद में अब योग दिया, नगाड़े की आवाज़ में—"तुम तो पुराण ही उकट चलीं। धन्धे का कौन गुन्नह अगर आदमी का चलन ही ठीक न हो। तुम कहती हो गाने-बजाने वाले भूखों मरते हैं। मैं पूछती हूँ : बड़े रामदास भूखों मरते हैं ? मँगरू महाराज भूखों मरते हैं ? मेरा लच्छू जो है अभागा है ? क्या तुम भी बकती हो। इन लोगों को बाबू राजा, रईस, मियाँ, बड़े-मियाँ, हाथों-हाथ उठाये रहते हैं। सबके घर-बार हैं, बाल-बच्चे हैं। अब जिसकी करनी न करतूत, चाल न चलन हो, वह तो लक्ष्मी के घर में अभागा रहेगा ही"

"अरे तुम तो चुप ही रहतीं लछमन बो…" पहली ज़बानतेज़ कथकिन ने कहा—"सारा कबीरचौरा जानता है कि तुम्हारे यहाँ चिकनाई कहाँ से आती है। घर में पैसेवालों को घुसाकर रक़म चीरने से गाने-बजाने के धन्धे का क्या वास्ता ? तुम चुप रहो। तुम्हारा मुँह बोलने लायक़ नहीं है।"

"और तोर रे ? कसबिन !" लछमन बो का धैर्य जाता रहा। वह शुद्ध या सहज स्त्री-स्वभाव उतर आयी और इसके बाद उस औरत-मण्डली में वह महाभारत, उकटा-पुराण, यह ले-दे मचा कि परदे की बहुएँ बाहर निकल आयी; इस भय से कि हत्या तो किसी ने किसी की नहीं कर दी। और बच्चे तो मारे डर के भाग ही चले।

खैर, शोभा को आत्म-हत्या के बारे में पुलिसवालों से झूठ-सच कह-सुन, रो-गा, हाथ-पाँव जोड़ उनकी 'प्रापर' पूजा-पत्री प्रस्तुत कर लीलाधर ने किसी तरह जान तो बचाई लेकिन इस मृत्यु का उसको बड़ा सख़्त धक्का लगा। जैसे उसके माथे का एकाध पुर्जा ही गड़बड़ हो गया। वह अर्धविक्षिप्त-सा आचरण करने लग गया। शोभा के शव के साथ लीलाधर घुँघरू बाँधकर चला और मणिकर्णिकाघाट पर उसकी चिता को आग देने के बाद रावण के रचे शिवताण्डवका एक श्लोक तेजस्वी कड़कड़ाते स्वर में उसने सुनाया—

स्मरान्तकं, पुरान्तकं, गजांतकं मखान्तकम्
गजान्धकान्ध कान्तकं तमन्तकान्तकं भजे।

और जलती हुई चिता के सामने ताण्डव-नृत्य नाचने लगा।

"इस शोक के अवसर पर क्या यह तमाशा लगा रखा है लीलाधर।" उसको एक पड़ौसी ने टोका तो उसने हँसकर जवाब दिया—"चाचा ! यह मरी नहीं है, नैहर गयी है। मुझसे वादा करके कि पुनः लौटेगी, मिलेगी।"

"चल !" एक दूसरे कत्थक ने लीलाधर से साधिकार भर्त्सना के

स्वर में कहा—"जबतक जीती थी तबतक तो तूने अभागिनी को भूसे-भाव मताया और अब करता है नाटक, स्वाँग, ढोंग-धतूरा। मेरी ज़बान कड़वी, मैं बदनाम पर सच बोले बग़ैर मुझसे रहा नहीं जाता। कोई ख़ुश हो कि नाख़ुश। यह कत्थकों की जात औरत-मारक है। स्त्री हम लोगों के जैसे सहती ही नहीं, हम उसे ···।"

"जाने भी दो!" तीसरे समझदार ने समझाया। यह श्मशान है; शान्ति की जगह। जो हुआ, हुआ। उसे तो अब विधाता भी बदल नहीं सकता। अब तो हमारा फ़र्ज़ यही है कि शान्ति से परम-पिता से प्रार्थना करें कि वह प्रसीदे और अभागिनी आत्मा को शान्ति दे।"

श्मशान से घर लौटकर लीलाधर ने शोभा के पुत्र राजू को जैसे जीवन में पहली बार देखा, चीन्हा और प्रसन्न-पुलकित हुआ। "बेशक वह मरी नहीं। इस राजू में वही शोभा राजती है। वही नाक, वही नक्शा।" और उसने द्विवर्षीय बच्चे को हृदय से लगा लिया—सावेश। बच्चे की आँखें ताज्जुब-मिश्रित भय से बड़ी-बड़ी हो उठीं।

इस घटना के बाद पूरे बारह वर्षों तक लीलाधर था और राजू था। माता की तरह उसने बच्चे को पाला-पोसा। फिर गुरु की तरह गाने-बजाने और नाचने की शिक्षा देने लगा। चौदह साल का राजू राधा का रूप भरकर जब लास्य-पद्धति का नृत्य नाचने लगता तो लीलाधर को ऐसा लगता जैसे शोभा ही नाच रही है। कबीरचौरा मुहल्ले में सैकड़ों कत्थक-कुमार, पर, राजू राजू ही था। उसके मुक़ाबले, एक भी, गा-बजा या नाच नहीं सकता था। लेकिन लीलाधर ने उसे कभी भाड़े पर बाज़ार में नहीं नचाया। यद्यपि दूसरे कत्थक ज़रा-सा हुनर जानते ही लड़कों को—पैसेवालों की सनकों पर बेखटक नचाते थे।

लेकिन जब राजू चौदह वर्ष का चमाचम बालक हो गया तब जैसे लीलाधर की भावुकता व्यापारिक-रंग पकड़ने को मचलने लगी।

"कत्थक का लड़का नाचे-गायेगा नहीं तो क्या वेद-पाठ से जीविका कमायेगा? मगर नाचनेवाले लड़कों का चलन शहरवाले बिगाड़ देते हैं। सौ-में-सौ सुन्दर लड़के पहले तो बदमाशों की झकों के शिकार—फिर बीमार, फिर बेकार हो जाते हैं।" उसके विवेकी-मन ने तर्क किया। लेकिन मतलबी-मन ने तेज़ी से काट डाला—"लड़के बिगड़ते नहीं, लड़के ही रहते हैं। बिगड़ती लड़कियाँ हैं, किसी की चपेट में पड़कर। लड़की मिट्टी की गागरी, बिगड़ी तो बिगड़ी। लौंडा है धातु का घड़ा—सौ बार मल लगने के बावजूद ज़रा ही माँज-धो से ज्यों-का-त्यों।"

सो, पहली बार लीलाधर ने राजू को काशी के एक संगीत सम्मेलन में नचाया। और एक ही प्रदर्शन में उस लड़के ने रसिया बन रसियों को प्रसन्न कर दिया। चल निकला उसका धन्धा। अब लीलाधर पचीस रुपये में एक घंटा तक नाचने का सौदा करता। इस स्थिति में वासना के नशे में लड़के-लड़की में भेद न करनेवाले सर्व-भोगी भी राजू की तरफ़ हाथ लपकाते, लेकिन लीलाधर बराबर निगरानी करता। ऐसों से रुपये तो ऐंठ लेता, पर लड़के को उनके आक्रमण से बचाता। रुपये ऐंठने के इस मोह में लीलाधर बख़ुशी अपने बेटे को राधा या कृष्ण की पोशाक में, बदचलनों की गोद में, उनके चुम्बनों की बौछारों में जाने देता; पर सावधानी से; इसके आगे की दुर्घटनाओं को बचाता हुआ और इसमें उसे कुछ भी अनैतिक या अस्वाभाविक न लगता। क्योंकि जब वह स्वयं राजू-जैसा था तब अपने अभिभावकों द्वारा इससे भी बुरी विधि से बाज़ार-बाज़ार नचाया जाता था। कहते हैं कांचन यानी लक्ष्मी अथवा टके में सब गुण होते हैं। यह सही हो या न हो, पर यह तो सर्वथा सही है कि ठनाठन की चमाचम में अनेक दुर्गुण सद्गुण की तरह नज़र आते ही हैं। कुछ आज ही नहीं, उस काल से जब आदमी ने रुपये के लिए पहली

बार आदमी की जानतक लेने में पुण्य के दर्शन पाये थे और जब औरत ने पहली बार लोभ या अभाव-वश टके को सतीत्व से—स्वर्ग से—बढ़कर माना था।

: १० :

"नर्तन-रत त्रिभंगी-मुद्रा में इस बालक के छोटे-छोटे दोनों चरण" जगरूप ने लीलाधर से कहा : "चरणों की चारुता के चमत्कारी चित्र जैसे हैं ! यह किसका लड़का है लीलाधरजी ?"

"हाँ बेटा राजू !" लीलाधर ने नाचते हुए किशोर से कहा : "चाचा के सामने अदा तो करो ! पहले वाणी से, फिर भाव से और फिर पावों से…।"

"भूत-नाथ, भय-हरन, भीम, भय-भवन, भूमिधर,
भानुमंत, भगवन्त, भूति-भूषन, भुजंग बर,
भव्य-भाव-वल्लभ भवेस, भव-भार-विभंजन-
भूरि-भोग, भैरव, कु-जोग-गंजन, जन-रंजन...
भारती बदन, विष-अदन सिव, ससि-पतंग-पावक नयन,
कह तुलसिदास किन भजसि मन, भद्र-सदन मर्दन मयन।
धिग धूकिट धान, धिग धूकिट धान
कृतिक धूकिट धा !
धूकिट धा ! धा !"

किशोर राजू ने तुलसीदास का पद मुँह से सुनाने के बाद नृत्य के बोल पावँ और मुँह दोनों से अदा किये और जगरूप उस लड़के की शोभा एकटक देखता ही रहा।

"लीलाधरजी, ज़रा सामने की कोठरी से मेरा फ़ोटो-केमरा तो लाना। मैं राजू का एक चित्र लेना चाहता हूँ।"

लीलाधर ज्योंही दूसरी कोठरी की ओर गया त्योंही जगरूप अपने स्थान से राजू की तरफ़ सरका...।

"वाह भाई! क्या कहने! तुमने बड़ा ही अच्छा अभ्यास किया।"

जगरूप ने दोनों हाथ पसार कर लड़के को भुजाओं में कस, हृदय से लगाते हुए कपोल नहीं, उसके अधर चूमने की चेष्टा की; पर, वह चंचल-नर्तक उसकी भुजाओं से निकल गया; असन्तुष्ट। उसने बनारसी भाषा में जगरूप से कहा :

"अरे! तू हम्मैं लपटावत हय—बाहरे!" तबतक लीलाधर केमरा लेकर आया। लड़के को कुमुद्रा में देख जबतक वह कुछ पूछता, राजू ने ही बड़ी ख़फ़गी से सुनाया :

"चाचा! तू ओहर गइलै त ई हम्मैं लपटावै लगलन—हरामी!"

"ना! बेटा ना!" लीलाधर ने दाँत से ज़बान काटते राजू को बद-ज़बानी से वर्जित किया : "ये भी चाचा—बड़े चाचाजी हैं बेटे! बड़े लोग छोटों को प्यार करते ही हैं। हाथ जोड़! इनके पाँव पकड़! क्या ज़लील लफ़्ज़ बोल गया।"

"कोई बात नहीं, कोई बात नहीं लीलाधरजी—'बररै बालक एक सुभाऊ।' हाँ भाई, तुम पहले की तरह त्रि-भगी-भाव में खड़े तो हो जाओ! तुम्हारा फ़ोटो अंग्रेज़ी **इलस्ट्रेटेड वीकली आव इंडिया** में छपाऊँगा। यह किसका बालक है लीलाधरजी! आपने बतलाया नहीं।"

"आपही का दयानिधान! हाँ बेटा! जैसे चाचा कहते हैं, खड़े हो जाओ। अरे! अभी तुम्हारे चेहरे पर खुनस बनी ही है! —कहा न—ये चाचा हैं। ऐसे खड़े हो! यह पाँव—यों। अँगूठे के बल यह पाँव। मुरली-मोहन की त्रिभंगी-मुद्रा में खड़े हो।"

राजू का नख-शिख वर्णन किये बिना फ़ोटो का फ़ोकस सही शायद न हो। सर पर ज़री के काम की किश्तीनुमा टोपी। पट्टेदार केश, किमख़ाब की अचकन, चूड़ीदार पाजामा और किशोर-सुलभ चुस्त कमर में गुलाबी रंग का फबीला कामी-दुपट्टा। विमल-मुख, कमल-नेत्र : मौन रहने पर भी राजू का रूप मुखर-मनोहर।

"बड़ा हठीला छोकरा है।" लीलाधर ने सुनाया—"दो वर्ष का था तभी इसकी माता जाती रही। इसे कैसे पाला—मेरा जियरा ही जानता है। बड़ा ही हठीला...।"

"राजू ख़ुश किस वस्तु से होता है ? मिठाइयों से ?"

"ऊहुँक।"

"खिलौनों—कपड़ों से ?"

"ना बाबा ! आप हँसेंगे—यह ख़ुश रहता है...रुपये से। पैसे से नहीं; हाँ। आप क्या समझते हैं ? यह रुपये जुटाता है। इसकी गोलख में आज भी जितनी रक़म होगी उतनी मेरे पास भी न होगी।"

"तो मैं इसे रुपये से राज़ी करूँ ?" जगरूप ने जेब में हाथ डाला।

"अरे ना ! ना महाराज ! मैं इसको देता हूँ न। आप अन्याय न करें...।"

"लो राजू !" एक रुपया जगरूप ने लड़के की ओर बढ़ाया।

"नहीं राजू !" लीलाधर ने मना किया, पर राजू ने लपककर जगरूप से रुपया ले ही लिया। जगरूप ने पुनः जेब में हाथ डाला और एक रुपया और निकाला। सचमुच अब राजू जगरूप की गोद में था। लीलाधर ने पूछा :

"केमरा मैं जहाँ से लाया वहाँ रख आऊँ ?" जगरूप ने इशारे से स्वीकृति दी। लीलाधर वहाँ से जैसे जान-बूझकर हट गया।

: ११ :

जगरूप की 'माई' यानी नानी महादेवी के 'स्त्री'-मन में यदि मोह न होता तो वह निःस्सन्देह महा-महा मुसीबतों से मुतलक बच जाती। पर, महादेवी ही अभागिनी क्यों ? सारे मानव-समाज का कठिन कष्ट-दाता मोह ही है। "मोह सकल व्याधिन कर मूला" कहा है न गुसाईं बाबा ने।

स्त्रियों के स्वभाव में पुरुषों से काम, क्रोध, लोभ, मोहादि अष्ट-गुण अधिक होते हैं, यह भी मानने को इन लकीरों का लेखक तैयार नहीं। स्त्री-पुरुष के गुण-स्वभाव में मैं यह भेद मानता हूँ कि स्त्री गुणों को अधिक दृढ़ता से पकड़ती है जब कि पुरुष की पकड़ प्रायः शिथिल हुआ करती है; मौक़ा-परस्त : हानि-लाभ के अनुमान से भागने या टिकने वाली। पुरुष बा-आसानी अँकड़ने के बाद जबरे से पाला पड़ने पर कह सकता है कि चलो ! मेरी मूछें खड़ी नहीं, झुकी सही। पर औरत जब एक बार अँकड़ या अड़ जायगी तब इस पार या उस पार होकर रहेगी वह अपने निश्चयों में ऐसी दृढ़ न होती तो गर्भ धारण करने में घोर कष्ट अनुभव करने के बाद भी वह पुनः-पुनः जननी न बनती, 'तन तरुनता गवाँकर।'

रत्नशंकर की पत्नी में तो स्त्रियोचित वह दृढ़ता और भी अधिक थी। ब्रजरानी के रूप में एक कन्या-रत्न के बाद उसे सन्तति हुई ही नहीं—इस रहस्य में भी उसके चरित्र की दृढ़ता ही दबी हुई है। ब्याह के बाद बनारस आने पर साल-दो-साल तो ख़ैर ख़ैरियत रही। वह अपने पति को पत्निपरायण और चरित्रवान जानती रही। पर रत्न-शंकर की नाभि में छिपी पाप की काली कस्तूरी की बद-बू वातावरण-व्यापिनी थी। अतः एक दिन मानिनी महादेवी को विश्वास हो ही गया कि उसका पति नीचे डूबकर नीच-रस लेनेवाला है। बात यों बनी।

कुसुम चुड़हारिन महादेवी को जब चूड़ियाँ पहनाने आयी तब उसकी अँगुली की एक अँगूठी महादेवी को पहचानी जैसी लगी। फलतः वह बार-बार अँगूठी ही देखती रही।

आखिर चुड़हारिन ने लीला से मुस्कराकर बतलाया—

"बहूरानी, मैं ब्राह्मणी के आगे झूठ नहीं कहूँगी। आज जानबूझकर मैं यही मुदरी पहनकर आयी कि तुम देखो और पूछो और मैं बतलाऊँ कि यह मुझे किससे और क्योंकर मिली।"

"यह मुदरी तो ब्रजरानी के बाप को मेरे बाप ने व्याह के अवसर पर दी थी...और उनसे कहीं खो गयी थी। तुझे कैसे मिली ?"

"मुझे मालिक ने दी...।"

"बिरजू के बाप ने...?"

"नहीं तो क्या मैं सेंध मारकर ले गयी। खोयी नहीं थी। ऐसी रक़म और मालिक जैसे चतुर प्राणी से खो जाय। बहूरानी की बातें। उन्होंने मुझे दी थी।"

"कब ? क्यों ?"

"तुम नैहर गई हुई थीं, छः महीने पहिले की बात है। मैं आयी चूड़ियाँ पहनाने। मालिक ने दुछत्ती की खिड़की से इशारे से ऊपर बुलाया "इधर आजा।" मैं समझी बहूरानी दुछत्ती में है। निर्भय चली गयी। भय लगा तब जब मालिक ने मेरे घुसते ही दरवाज़ा बन्द कर दिया...।"

"झूठ ! कमीन कहीं की" महादेवी कुसुम पर लाल-पीली पड़ी "ख़बरदार ! जो कभी ऐसी बात ज़ुबान पर लायी !"

"झूठ नहीं बहूरानी, मैं तुम्हें चेताने आयी हूँ। मालिक आजकल भरतबो मालिन से गुँथे हुए हैं। जाँच करा लो। मेरी बात झूठ निकले तो अपनी जूती से मेरी ज़बान काट लो। मुझे तो यह अँगूठी ही दी थी लेकिन उसको सोने की तिलड़ी सिकड़ी दी है।"

"सिकड़ी ? सोने की ?"

"हाँ....।"

"गोल-गोल दानेवाली ?"

"अच्छा, तो वह सिकड़ी भी तुम्हारी पहचानी-जानी है।"

चुड़हारिन ने महादेवी को अपनी पाप-कमायी मालिन की तिलड़ी सिकड़ी से चिढ़कर, जलकर बतलायी थी, पर महादेवी के लिये उतना बहुत था। यह काम-वासना ऐसी बलवती हो सकती है कि आदमी को कर्त्तव्य से विरत कर दे। लानत है इस वासना और काम पर। स्त्री को पति का हृदय ही न मिला तो विश्व की सारी सुविधाएँ मिलती रहें; पाई-न-पाई बराबर। महादेवी कई दिनों तक गंभीर चिन्ता-मग्न रही।

"मैं जिसकी मन-वचन-कर्म से उपासना करूँ वही मेरा ऐसा अनादर करे। जब चुड़हारिन और मालिन बिना काम नहीं चलना था तो फेरों में डालकर मुझे क्यों फेर में डाला गया! नाम बड़े रे दरसन थोड़े। ब्राह्मण और पंक्ति और ये पुण्य-कर्म।"

महादेवी को अपनी बुवाजी की याद आयी जो अपने पति को पतित जानते ही घर की दक्खिनवाली कोठरी बन्द कर देह पर घी उँडेल कपूर जला कर सती हो गयी थीं। मनतः महादेवी ने भी देह पर घी उँडेल अपने वस्त्रों में आग लगा ली थी, पर वह एकबारगी जलकर सर्वथा सती नहीं हुई थी। उसकी आग तो सारी ज़िन्दगी उसे जलाती रही। गर्भधारण करना तो दूर की बात—फिर महादेवी कभी रत्नशंकर की अंकशायिनी हुई ही नहीं और जबतक जीवित रही अखण्ड ब्रह्मचारिणी की तरह 'तपती-सी' रही। ब्रजरानी के बाद दूसरी सन्तान न होने के पीछे रत्नशंकर की दुश्चरित्रता और महादेवी का उग्र-चरित्र था। दुर्भाग्य या रज-वीर्य का दोष नहीं। महादेवी की यह तपस्या और भी रूक्ष हो जाती है यह विचार में आते ही कि उसकी

देवरानी को सोने सा एक बेटा था जिस पर कितना नाज़ था उसे। महादेवी के सारे मालिकपन को उसकी देवरानी पुत्र-पालन-सुख की तुला के पासँग में भी नहीं तौलती थी। यह बात महादेवी के मातृ-मन को बहुत ही खलती थी। फलतः विवाह के पूर्व ही उसने ब्रजरानी के बेटे को, पैदा होते ही, गोद लेने का निश्चय किया था, इस दृढ़ता से कि विवाह के बाद जब कई वर्षों तक बिरजू के बेटा नहीं हुआ, हुईं बेटियाँ ही, तब महादेवी ने जन्तर-मन्तर, साधू-फ़क़ीरों को भी नहीं छोड़ा था। नतीजा यह हुआ कि बिरजू को बेटा तो हुआ; पर, चलन उसकी बद हो गयी। यहाँ तक कि सारे भदैनी मुहल्ले में बद-बू-सी फैल उठी। खैर।

"महादेवी को बेटा चाहिये था, उसने बेटा पाया; यह अलग बात है कि मोह की बहुत-सी वस्तुएँ दूसरी ज़रूरी चीजों के विकट विनाश के मूल्य में मिलती हैं। ब्रजरानी के गर्भ में जब जगरूप आया, तब प्रायः दो वर्ष से उसने अपने ग्रामीण पति का मुँह नहीं देखा था। बाद में लोक-लाज के लिये सब-कुछ जानकर महादेवी ने बेटी को महीना-भर के लिये ससुराल भेज दिया था; जहाँ से हफ़्ते-भर के अन्दर ही वह लड़-झगड़कर बनारस लौट आयी थी। पर, समाज की आँखों में धूल झोंकने के लिये इतना काफ़ी था। कुछ भी क्यों न हो महादेवी को एक बेटा चाहिये था जिसे वह अपने बाद भदैनी की विपुल सम्पत्ति का अधिकारी अपने पति से बनवाने पर तुली थी। और देवरानी ने क्या अपने लड़के को पाला होगा—दासी की तरह घर में रहनेवाली। सारी मलाई तो महादेवी के हाथ में रहती थी। उसने भदैनी की सारी मलाई से ब्रजरानी के बालक अपने नाती की पालिश-मालिश शुरू की।

महादेवी की ये तरकीबें उसके देवर रामशंकर के तेज़ बनारसी चश्मों से छिपी नहीं थीं। फिर भी परम्परा के अनुसार बड़ा भाई स्वामी होता था, छोटा सेवक। कुछ बोलना छोटे के लिये मर्यादा-भंग

करना जैसा हो जाता था। सो, रामशंकर ऊपर-ऊपर मौन रहा, पर, अन्दर-अन्दर हमेशा सावधान रहा। अलबत्ता उसकी पत्नी जेठानी के पक्षपात से पीड़ित हो सूखते-सूखते एक दिन मर ही गयी। चालीस वर्ष की वय में रामशंकर ने दूसरी शादी बनारस की ही कुलीना ब्राह्मण कन्या से की जिससे पाँच वर्षों तक वह बराबर बेटे-पर-बेटे ही पैदा करता रहा। औरत मरने पर आ गयी और हाथ जोड़ने लगी : "दया-निधान ! इतने ही बच्चों को पालने के लिये एक जन्म चाहिये। मेरी जान पर रहम कीजिये।" "मुझे इतने बेटे चाहिये" रामशंकर ने सना-तनी गंभीरता से सुनाया "कि कदाचित् भाई साहब जगरूप को उत्तराधिकारी बनाने में सफल भी हो जायँ तो कोरे बहुमत से मेरे बेटे उसे मार भगायें।'

: १२ :

ईमान की बात यह है कि रामशंकर का बड़ा बेटा विनीत, भद्र यानी बड़े-छोटे का लेहाज़ करनेवाला था। यह जानते हुए भी कि माताओं में तनाव है वह 'बड़ी माँ' को कभी अनादर से नहीं स्मरण करता था। पर जगरूप उसके बिलकुल विपरीत था। बचपन से ही उसकी आदतें दुष्टता-भरी-चिबिल्लई की थीं और दुष्टता और चिबिल्लई वह अपनों ही से नहीं सबसे एक भाव से ढीठ, निर्लज्ज, करता था। जैसे एक दिन रत्नशंकर दोपहर को सो रहे थे तब, धीरे-से, उनके निकट जा उनकी गहरी नाभि में छोटी मोमबत्ती खड़ी करके उसे जला दी थी। और फिर ऊपर दुछत्ती की खिड़की में बैठकर तमाशा देख रहा था कि कैसे मोमबत्ती पिघलती है और नानाजी के

पेट पर गर्म-तरल मोम बहता है। कैसे चमककर नानाजी उठ-बैठते हैं : "अरे बदमाश !" जगरूप की दुष्टता पहचानने के बावजूद रत्नशंकर बिगड़े नहीं और वह खिड़की से खिलखिलाकर हँस पड़ा।

व्रजरानी (जगरूप की माता) को सारे दिन पान-सुपारी खाने की लत थी। उसकी एक बटुई (थैली) थी जिसकी जेबों में पिसा कत्था, सुपारी के टुकड़े, चूने की डिब्बी, तम्बाकू, लौंग वगैरह होता था। अपनी माता की उस थैली में जगरूप अक्सर लाल बरें पकड़कर रख देता और उसके दंशन से व्यग्र हो व्रजरानी जब चिल्लाने लगती तब वह परम प्रसन्न हो-होकर, उछल-उछलकर हँसता। मुहल्ले से आये-दिन महादेवी के सामने उसके लड़ैते की शिकायतें आतीं; यद्यपि मोह-भरी वह विश्वास एक पर भी न करती : "तुम सभी मेरे बच्चे से जलती हो। पड़ोसन नहीं, मुद्दइन हो ! चलो !"

जगरूप की दूसरी बहन मोहनी भी हठीली मिजाज़वाली थी। तब जगरूप १० साल का होगा, वह १८ की थी; जगरूप के पास एक कैमरा था जिससे उसने सारे घर की तस्वीरें उतारी थीं। एक मोहनी बहन को छोड़कर। क्योंकि मोहनी उसे तस्वीर लेने ही नहीं देती थी। जगरूप ने कहा : मैं तेरी तस्वीर उतार कर रहूँगा !" "अरे चल !" मोहनी ने जवाब दिया : "ज़रा गड़ही के पानी से मुँह तो धो आ !" जगरूप ने कहा : "हाथ मार !" मोहनी ने कहा : "हाथ मार या सर मार, मेरी फ़ोटो तू नहीं ले सकता। ले ले तो, मैं तुझे ५) रुपये इनाम दूँ।"

कहते हैं, इस कहा-सुनी के सातवें ही दिनजग रूप ने अपनी माई (नानी) के हाथ में मोहनी की ऐसी तस्वीर रख दी कि भदैनी-भवन के सब-के-सब हैरान-परीशान रह गये। चित्र में मोहनी स्नानघर के अन्दर नलके के नीचे नंगी नहा रही थी ! जगरूप ने निर्लज्ज-भाव से माई से आग्रह किया कि बहन से उसके जीते हुए रुपये ५) वह

दिला दे। "चौपटनऊँ ! जबरा चोर—सेध में गावै !" माई ने ताबड़-तोड़ कई तमाचे जगरूप के जड़े और उस चित्र के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। महादेवी जगरूप को मारने-पीटने की कल्पना तक नहीं कर सकती थी; पर उस 'अपराध' पर उसका धैर्य जैसे टूट गया। मारने को कई चटकने वह जड़ गयी, पर पश्चात्ताप में २४ घंटे तक उसने खानापानी भी नहीं लिया।

उस घटना ने महादेवी को पहली बार गंभीरता से विचारने का मौक़ा दिया कि जगरूप को गोद लेने में उसने भूल तो नहीं की ? लौंडा कुल-घालक तो नहीं होगा ? पूत के लच्छन पालने पर। इसके सारे लच्छन कुलच्छन ही हैं। लेकिन इसके आगे सोचने की हिम्मत महादेवी को न होती। जैसे जगरूप के जन्म का अनुचित-आरंभ महादेवी की आँखों के आगे फिर जाता। पर, मारे भय के उस अशुभ-सत्य का सामना वह न कर पाती। आँखें मूँद लेती। एक लाचारी महसूस करती और निश्चय करती कि अब जिसे पकड़ लिया है उसे निभाने ही में कुशल है। फिर, बचपन सभी का ग़ैरज़िम्मेदार होता है। लेकिन यह तो ग़ैर ज़िम्मेदारी नहीं, नीचता है। जगरूप की आदतों, लच्छनों में बचपन से ज़ियादा दुष्टता है। अपने ही तर्कों को आप ही काटती हुई वह पुनः चिन्तामग्न हो जाती : यह बालक है कि 'राक्षस' ?

पर वह राक्षस था या बालक महादेवी के अन्तःमन पर उसका सर्वथा अधिकार हो चुका था। वह उस लौंडे के बारे में सही निर्णय पर पहुँचने में मारे मोह के असमर्थ-सी हो गयी थी। जगरूप जिस किसी वस्तु का आग्रह करता लेकर रहता और वह चाहती कि उसके 'भैया' का जी कदापि न टूटे। बकस-के-बकस तो उसके कपड़े भरे पड़े थे। दर्जनों जूते। उसके पठन-पाठन का कमरा ग़ालीचा और पर्दों से—बिलकुल रईसी रंग से सजा हुआ था—जबकि, उसी घर में, उस सम्पत्ति के कम अधिकारी नहीं—रामशंकर ने जब एक लड़का था

तब भी, प्रथम स्त्री के देहान्त के बाद दूसरी से जब कई लड़के हो गये तब भी, अपनी किफ़ायतशारी का ढंग दृढ़ता से छोड़ा नहीं। उसके सारे लड़के आचरण में कसे हुए रखे जाते थे—नियमित, संयमित। बकर्मों-वस्त्र तो दूर की बात उसके लड़कों के पास ज़रूरी कपड़े तक न होते। वह यही चाहता सिद्धान्ततः कि लड़कों को खर्राची की लत न लगे, वे शौक़ीन न बनें! वैसे कोई कमी या रोक नहीं थी, चाहने मात्र से रामशंकर भी अपने बेटों को चितचाही चीज़ें अनायास दे सकता था। सो, वह अपने बेटों की बुनियादें बनाता रहा, साथ ही, जगरूप की जड़ में कीड़े लगने देता रहा।

इसी दर्मियान अति-भोग से रत्नशंकर बीमार रहने लगे। फलतः लेन-देन, ज़र-जागीर आदि के सँभालने की सारी ज़िम्मेदारी रामशंकर के हाथों में आ रही जिससे अपनी जड़ मज़बूत करने के पक्ष में उसने बढ़-बढ़कर हाथ मारे। लेकिन इस कपट से कि रत्नशंकर मरते दम तक यही सोचते रहे वह जगरूप ही को अपने हक़ का हक़दार बनाये जा रहे हैं। पर, रामशंकर ने बाज़ी अपने पक्ष में खेली और सफल। रत्नशंकर के इच्छा-पत्र में जगरूप की कहीं चर्चा तक नहीं थी।

"तो ?" पति के मरने के बाद देवर के दबाव से दहलकर महादेवी ने सोचा : "तो क्या अब देवरानी की सेवा करनी पड़ेगी ? उसकी हथेली से लेकर खाना होगा? मेरे 'भैया' के लिए कुछ भी नहीं किया जा सकता अब ? कल तक तो जो मैं चाहती थी वही होता था, पर आज मेरी रोटी तक देवरानी की दूभर दया पर निर्भर ! हे राम ! तुम्हारी इतनी पूजा-अर्चना जो सारी जिन्दगी मैं करती रही उसका यही परिणाम है कि आज मेरे पास लड़ैते नैनतारा का विवाह करने के क़ाबिल भी धन नहीं। 'राज देन कहि दीन वन।' इस लड़के का भविष्य क्या होगा ? हे राम ! हे भगवान !"

"क्या ?" एकाएक महादेवी के मन में एक चमक खिली—"क्या?

ठाकुरजी के ? अरे ना ! क्या ? बुरा क्या है ? इस देवर ने मुझे कहीं की भी तो नहीं छोड़ा। हे भगवान आज मेरी कैसी बुद्धि बना रहे हो।

महादेवी कई दिनों तक अपने आपे में नहीं थी। अक्सर ज़ोर से पुकार उठती : "हे भगवान् यह कैसा प्रकाश—कैसी बुद्धि?" जैसे उसके अन्तराल में किसी विकट निर्णय का बड़वानल खेल रहा था और कोई कूल-किनारा नज़र नहीं आ रहा था। तबतक दीपावली का त्यौहार आया। उस अवसर पर दुबे परिवार के कुल-देवता के खानदानी आभूषण उन्हें पहनाये जाते थे। ऐसा साल में एक ही बार होता था।

इस बार महादेवी जब दर्शनों को गयी तब देवालय के पट बन्द कर, देवताओं के सारे गहने और सोना- चांदी के बरतन उसने साव-धानी से चुन-चुनकर ग़ायब कर दिये। फिर रामशंकर ने लाख चिल्ल-पों मचाई, देव-कोप का भय दिखलाया, पर महादेवी ने साँस तक न ली कि कुछ नहीं तो चालिस हज़ार का वह सब सामान हुआ तो क्या हुआ ? कुलीनता का तक़ाज़ा था, लोकापवाद-संग्रह उचित नहीं था, सारी मलाई तो उसके हाथ लग ही चुकी थी, अतः देवधन के इस छाछ के लिये रोना या दिमाग़ ख़राब करना अविवेक पूर्ण सोचकर रामशंकर मौन रह गया। पर रूखा हो गया अपनी बेवा भौजी से। यहाँ तक कि जगरूप के व्याह में भी उसने कोई विशेष रुचि न दिखायी। विवाह भदैनी से हो यह भी उसने मंज़ूर नहीं किया। जगरूप की शादी उसके पितृगृह : गोरखपुर जिले के पण्डितपुर गाँव से हुआ। लड़की मांडा राज्य के एक साधारण ब्राह्मण की थी।

स्वयं जगरूप ने ऐसे ब्याह की कल्पना तक नही की थी। उसकी आँखों में तो नाना रत्नशंकर की धन-शक्ति की राजसी माया बसी थी। जागीरदारी ठाट-बाट का दूल्हा बनना चाहता था। उसने जब देखा कि नाना जी के परमधाम पधारते ही उसके सारे सपने भंग हो गये, तो व्याह करने से ही इन्कार कर दिया। सो भी तब जब उसकी माई ने

लड़कीवाले को वचन दे दिया था। फलतः महादेवी ने लड़की के बारे में अपने लड़ैते की झूठ-सच से भरमा कर कार्य साधने का निश्चय किया। यह सोचकर के एक बार जब सम्बन्ध हो जायगा, गले में जुआ पड़ जायगा तब बछेड़ा खूँटे से बँध कर सही चाल-ढाल पर आ ही जायगा। उसने जगरूप को बतलाया कि "लड़कीवाला ग़रीब भी वैसा नहीं। लड़की का बाप माँड़ा राज्य का अधिकारी रह चुका है और पेंशन पाता है। लड़की क्या साक्षात लक्ष्मी है। देखेगा तो कहेगा दुनिया में ऐसी देखी ही नहीं।"

"पढ़ी-लिखी है ?"

"राजा की निगरानी में।"

"राजा की निगरानी !"

"और नहीं तो क्या—अपने राजा के लिये मैंने ऐसी लड़की चुनी है जो राजा की देख-रेख में पाली-पोसी गयी है।"

"वह गाना जानती है ?"

"कोयल की तरह रे।"

"बजाना जानती है ?"

"वीणा, हाँ—सरस्वती की तरह।"

"माई," अब अनुराग लेते हुए जगरूप ने पूछा—"उसे मोटर चलाना आता है ?"

"कैसे लड़के आज के ! कैसी पसन्द इनकी ! इसने यह तो नहीं पूछा कि लड़की शीलवती है कि नहीं, कुल-पालिका है कि नहीं, घर-गृहस्थी में निपुण है कि नहीं। आज के लौडों को गृहणी नहीं गायिका, नाच-नारी, मेम चाहिये। भैये ! मैं कहती हूँ माँडावाली लड़की लक्ष्मी है लक्ष्मी।"

: १३ :

जगरूप का ब्याह माँडाराज्य में हो गया। बारात बनारस से नहीं गोरखपुर से गयी थी। भदैनी-भवन से रामशंकर ने मदद काफ़ी की; पर, अपने कसे, कंजूस—मक्खीचूस-ढंग से। वह बारात में भी गया, यद्यपि उसकी सद्भावना न तो महादेवी से थी न जगरूप से। कुल मिलाकर बारात जगरूप की नज़र से शर्मनाक थी। जिस जागीरी-ठाटबाट के मनसूबे उसने बाँध रखे थे उसका कहीं नामतक नहीं था। वैसे ही, न तो उसे ससुर का घर पसन्द आया, न माँडाशहर,—"तब ?" उसने सोचा, "बहू भी भद्दी, देहातिन होगी—? माई ने झूठ ही कहा था कि लड़की पढ़ी-लिखी, गाने-नाचने में निपुण है ? ऐसी के साथ ज़िन्दगी निभानी पड़ेगी जो लैला न शीरीं, सोनी न शशि ? और तब जब आलरेडी बनारस की बीसियों बाँकी तवायिफ़ें उस पर जान देती हैं ?"

मण्डप में जाते-जाते जगरूप ने मन-ही-मन निश्चित किया कि यदि उसकी पत्नी बाँकी-छबीली 'गूजरी-गागर' न हुई तो वह उससे कोई सरोकार नहीं रखेगा। माई ने जिसे पसन्द किया—वही उसकी सेवा लेगी।

जगरूप का मंगल-काल में यों अमंगल सोचना अनतिदूर-भविष्य में उसके आगे आया। विवाह गोरखपुर से होने पर भी वर-वधू की मधु-रात बनारस (भदैनी) में ही हुई और वह मधु-रात ही विष-रात बन कर रही।

असिल में उसकी पत्नी प्रेमा का पालन-पोषण ब्राह्मण और सनातनी यानी तपस्वी-परम्परा में हुआ था। उसे सावित्री-सीता के शील की सीख पितृ-सदन में सहज ही मिली थी। स्त्री का कर्त्ता-धर्त्ता पति ही है और त्रिकाल में वही हो सकता है, यही उसे कथा, पुराण,

रामायण की श्रद्धामयी साक्षी से बतलाया गया था। सनातन आर्य वैवाहिक-विधि के विविध वैदिक-मन्त्रों का अर्थ विवाह से बहुत पहले पिता ने प्रेमा को सावधानी से समझाया था। पति-घर आने के पहले उसके पिता ने तुलसीकृत रामायण के राजा जनक शब्दों में उसे आशीर्वाद दिया था : "पुत्रि, पवित्र करसि कुल दोऊ।"

ब्याह के पहले प्रेमा के मन में कोई शर्त, कोई कल्पना नहीं थी, कि पति ऐसा हो या वैसा हो। पुरुष के बारे में सपने में भी सोचने का स्वभाव ही शायद उस लड़की को नहीं मिला था। ब्याह के अवसर पर कुल-देवता के पूजन के समय, 'कोहबर' में, जनकनन्दिनी की तरह ही उसने हाथकंगन की आरसी में जगरूप का रूप जो देखा तो सहज आत्मीय-भाव और श्रद्धा से मन-ही-मन उसको प्रणामकर उस पर निछावर हो गयी। "मन जाहि राच्यो मिलहि सो बर सहज सुन्दर साँवरो।" जगरूप साँवला था भी—लंबा, बड़ी-बड़ी आँखें, लमछर और सपाट आर्य-नासिका, फड़कते हँसीले अधरोष्ठ। प्रेमा ने मन-ही-मन कृतार्थ हो भगवती पार्वती सर्वमंगला को प्रणाम किया। साथही, अपने सम्पूर्ण नारीत्व के साथ पतिपरायणता का प्रण किया।

मधुरातवाले दिन बहुत बहुओं की तरह वह संकुचित, भीत नहीं रही। क्योंकि प्रेमा की माता ने उसे हिदायत दे रखी थी कि पहली रात वह पहले पति की आरती उतारे और पद-पूजन करे—फिर दाम्पत्य-सुख में रत हो। उधर शहरीछैला जगरूप मधुरात के दिन भी साढ़े ग्यारह बजे रात घूम-फिर कर लौटा था—नशे में धुत, लड़खड़ाता! आते ही उसने कोट उतारकर खूँटी पर टाँगा ही था कि प्रेमा आरती ले थाल में चन्दन-पुष्पादि लिये कमरे में दाखिल हुई : घूँघट काढ़े, मुग्धा, विनीता, हंसगामिनी।

"हुँह!" जगरूप ने अरुचि प्रकट की। "यह सब क्या है? न तो मैं देवता हूँ, नहीं देवता को पसन्द ही करनेवाला हूँ। स्त्री पति की

आरती तो केवल अपने चन्द्रानन से उतार सकती है।" उसने उत्तेजित-उजलत से उमँगकर प्रेमा के घूँघट की तरफ़ हाथ बढ़ाया। वह झिझकी, काँप उठी पुरुष के एकान्त-स्पर्श से—आरती का थाल उसके हाथ से गिर पड़ा। पति-पूजन की सारी सामग्री पथरीली पृथ्वी पर अशुभ-भविष्य-भावना-सी बिखर गयी। पुरुष का स्पर्श, आरती का पतन, घूँघट पर आक्रमण—प्रेमा मन-ही-मन इस क़दर घबरा उठी कि वहाँ से भाग जाने की इच्छा प्रबल होने पर भी शेर के सामने मृगी की तरह वह भाग न सकी। न ही घूँघट सरकाने का विरोध कर पायी। अलबत्ता पसीने-पसीने होकर काँपने लगी। तबतक घूँघट खुल चुका था। उसकी आँखें नीची थीं नहीं तो उसने देखा होता कि पहली ही उन्मत्त-दृष्टि में जगरूप को उसका रूप जरा भी जँचा नहीं—"हिश ! देहातिन ! बिल्ली! कौड़ी-सी आँखें, पकौड़ी-सी नाक ! हिश ! हिश !! हिश !!!" और दूसरे ही क्षण वह कमरे के बाहर—जैसे लड़खड़ाता हुआ आया था वैसे ही।

प्रेमा, बराबर, किंकर्त्तव्यविमूढ़ा ही बनी रही। क्षण, पल, आधी घड़ी, घड़ी—"ओह ! प्राणपति अप्रसन्न होकर चले गये।" अब उसे होश आया, अब उसे स्मरण आया—"हिश ! देहातिन—बिल्ली ! कौड़ी-सी आँखें, पकौड़ी-सी नाक ! हिश ! हिश !!" लहकता-दहकता एक-एक अक्षर ?

उसकी हड्डियों में जैसे मृत्यु काँप उठी। क्या उसके पति ने उसको पसन्द नहीं किया ? वह गये कहाँ ? कोट भी छोड़ते गए !

कोट की याद आते ही प्रेमा जगरूप के कोट की तरफ़ लपकी। जैसे उस वस्त्र ही के स्पर्श से पति-स्पर्श का पुण्य प्राप्त करने। खूँटी पर टँगे कोट को उसने अपने मुख पर तौलिया की तरह लपेट लिया—और मुग्धा के प्रथम-प्रेम से कण्टकित हो उठी ! पर उसी क्षण उसे कोट की जेबों में कुछ कड़ी वस्तुओं का आभास हुआ—और आतुर जाँच

करने पर पता चला कि एक तो शराब की चिपटी-सी बोतल थी जिसमें अभी भी कुछ मदिरा शेष थी; दूसरी जेब से कार्ड साइज़ का एक चित्र निकला। चित्र क्या था विष का बुझा बाण था प्रेमा के प्राणों की तरफ़ नियति द्वारा अचूक चलाया हुआ। उस चित्र में उसका पति किसी युवती को हृदय से लगाकर चूम रहा था।

प्रेमा का माथा चक्कर खाने लगा और आँखों के आगे अँधियारा छाने लगा। लगा जैसे दम घुट जायगा, प्राण छूट जायँगे। वह अंधड़ से उखड़ी प्रफुल्लित मालती लता की तरह पृथ्वी पर लोटने—तड़पने—लगी। वह मूर्छित हो गयी।

सारी रात प्रेमा के सुहाग-कक्ष के द्वार खुले रहे, कमरे में प्रकाश प्रसन्न हँसता रहा—पर, उस हतभागिनी के प्राणों में निविड़ अंधकार परिव्याप्त था। सवेरे महादेवी ने आकर देखा तो प्रेमा बेहोश पड़ी थी—बग़ल में दारू की बोतल। "इसे भी तो उस पाजी ने मदिरापान नहीं कराया ? हे राम ! कैसा अभागा लड़का है।"

अविलंब उसकी नज़र प्रेमा के हाथ के पास पड़ी हुई तस्वीर पर पड़ी—"ओह यह बात हुई !!"

मानो महादेवी को प्रेमा की मूर्छा के कारण का कुछ-कुछ आभास हुआ। मन-ही-मन बड़ी खिन्न ही हुई लेकिन होश में आने पर प्रेमा से महादेवी ने यही कहा कि—"पति के दोषों पर भी हिन्दू-पतिव्रताएँ कभी ध्यान नहीं देतीं। ध्यान देती हैं केवल सन्नारी के कर्त्तव्य पर, जिसका स्पष्टीकरण तुलसीदास की एक चौपाई से हो जाता है: अंध, बधिर, क्रोधी अतिदीना—सकल कला, सब विद्याहीना। ऐसेहु पति कर किये अपमाना—नारि पाय जमपुर दुख नाना। मर्द के छत्तीस राग; इसी पर बजने लगे तो गृहस्थी क्षण-भर डगरने वाली नहीं। फिर नयी उम्र में मर्द कुछ-न-कुछ वैसे ही होते हैं जैसा कि 'भैया' है। समय सब सुधार देता है—बड़े-बड़े बाँकों को बिलकुल

सीधा करके धर देता है। दूध-सा सच्चा-मर्द शहरों में शायद ही किसी भागवती के भागों में हो तो हो—लाख में कोई एक। भले ही गंगाजल-सी पवित्र स्त्रियाँ घर-घर में हों। यह भैया मेरा शहरियों की संगत में ऐसा बन गया है बहूरानी, नहीं तो, मैं अपने बेटे को क्या जानती नहीं। हृदय का बड़ा ही भोलानाथ है तेरा मालिक।

फिर, जब महादेवी को यह आभास लगा कि जगरूप पाणिगृहीता की मधुरात में विष बोकर रानी नाम की वेश्या के यहाँ रात-भर रहा तब उसके अन्तः का न्यायासन हिल उठा। जो 'भैया' को उसने कभी नहीं कहा था उस दिन कहा : "चांडाल ! पापी ! तुझे लाज नहीं आयी। लक्ष्म-बहू को लात मारकर चुड़ैल के कोठे पर रात बिताने में ? मैं कह देती हूँ भैये ! यह सब नहीं चलने का। मेरी जान ही लेना है तुझे तो एक ही बार गला घोंटकर मार डाल, न रहे बाँस न बजे बाँसुरी। न देखूँगी, न झंखूँगी।" महादेवी की आँखों में ग्लानि-भरे क्रोध के सहृदय आँसू आ गये।

: १४ :

"सारी कलाएँ अनैतिक होती हैं" कहा है—शायद—अंग्रेजी-भाषा के विचित्र, चरित्र-विरहित मगर महान कलाकार ऑस्कर वाइल्ड ने। ऑस्कर वाइल्ड के अन्तर का कलाकार अग्नि-स्वरूप था। उसमें चित्त-पट्ट, आड़ा-खड़ा सब-कुछ पच जाता था।

ऑस्कर वाइल्ड ही क्यों, किसी भी नाम लेने लायक़ कलाकार की कला परिपक्वता पाने पर अग्नि-स्वरूप हो उठती है। किसी भी सिद्ध-कलाकार में पाप-पुण्य दोनों ही आत्मसात या हज़म करने की असीम-

शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वैसे तो ज्यादातर मानव सांसारिक अपकर्मों में रत ही हो जाता है। आदमी का भोग-रत होना महज़-सहज है। पर कला, कोई भी, सधती, पकती, उग्र होती है तप से, योग से। साथ ही सड़ती, विकृत होती, गन्धाने लगती है ग्रहण से, भोग से। ऑस्कर वाइल्ड की कतिपय कृतियाँ कितनी कमनीय कि क्या कहने! क़ाबिल क़लम चूमने के! कितनों के साथ इन पंक्तियों के लेखक की रायानुसार भी ऑस्कर वाइल्ड जब लिखता था तब विख्यात बर्नार्ड शा से बदाबदी बेहतर लिखता था। मेरी राय से—प्रतिभादेवी यदि दोनों ही पर तुष्ट मान ली जायँ तो—वाइल्ड पर वह माशूक़ा की तरह मुग्ध थीं और शा पर माता की तरह। शा का कलाकार विशेषतः भोग से परे: साबुन-सिगरेट नहीं; मान्स-मद-माशूकाएँ नहीं। शा हँसोड़ न होते, तो सन्त-संप्रदाय के साधक समझे जाते। कमनीय-कलाकारों की कृष्ण-काग मंडली में बर्नार्ड शा—'बकोयथा'—विदित बगुल-पंखी।

लेकिन ऑस्कर वाइल्ड का आर्टिस्ट, उसके अन्तःकरण का ईश्वर—कलाकार-सरासर कृष्ण-कन्हैया था। कला-सिद्धि की सुरीली बाँसुरी लहराने पर रसकी कोई भी नागरी उसकी सखी, और कोई भी रसिक-कुमार उसका सखा। जानते हैं जनाब सखा माने? स माने संग, खामाने खाने वाला: दाँत-काटी-रोटी!

वाइल्ड स्वतः को कला का ख़ुदा समझता था,—एक तरफ़ और दूसरी तरफ़ लँगोटे का कच्चा, विकृत-वासनाओं का दास था। परन्तु पक्के कलाकार की कच्चाई कहीं भी बड़ाई नहीं बख़्शती। यहाँ तक कि सुख से भोगा भोग ही रोग बनकर कलाकार ही नहीं उसकी अमरकला को भी एक बार 'करियामुख' कर डालता है।

वाइल्ड की दसियों अमृत-कृतियों को उसकी बदनामी और सज़ा के बाद बीसियों बरसों तक इंगलैंड और युरोपवाले छुपेरुस्तम भले आदमी हाथ से छूना तक पाप मानते थे! कला के इस ख़ुदा के अंतिम

दिन स्वजनों तथा जन्म-भूमि से सुदूर परदेस, अभाव और गलित-मरण रूपी नरक में गुज़रे थे।

दुनिया का रवैया शक्कर से घी खाने का—जबकि वाइल्ड निरा घी ही खानेवाला था। ज़ियादातर कलाकार नामधारी होते हैं डूबकर निगलनेवाले। अपराध और दण्ड की मछली उनके गले में भी अँटकती है: रोग, असफलता, शोक के दारुण रूप में; पर, समाज के आक्रोश से वे बच जाते हैं। डंके की चोट भोगी कलाकार होने से ऑस्कर वाइल्ड जैसा बेइज्ज़त और बर्बाद हुआ वह कलाकारों के इतिहास में शायद बेजोड़ है।

फिर भी, जहाँ तक इन पंक्तियों के लेखक का देखा-सुना, पढ़ा-गुना हुआ है, यह समाज दुराचारी पाने पर, लेखनी के धनिकों पर जितना बिगड़ता, खड्गहस्त होता है, उतना संगीतकारों पर नहीं। शायद इसीलिये कि लेखक की कला विशेष टिकाऊ होती है; बुरी-भली होने से अर्से तक, बुरा-भला परिणाम प्रकट कर-करा सकती है। पर, संगीतकार की कला अधिक प्रभावकारी होने पर भी टिकाऊ कम होती है। शायद इसलिये कि संगीतकार का प्रभाव—क्षणिक होने के बावजूद —इतना प्रबल-प्रसन्न होता है कि श्रोता सहज ही 'ऐसे गुणी के सात खून माफ़' करने के बेसुध-'मूड' में आ जाता है। टिकाऊ होने पर भी लेखक की कला तत्काल और प्रबल-प्रभाव डालनेवाली ब-मुश्किल ही होती है।

लेकिन मैं पुन: ऑस्कर वाइल्ड के इस अभिमत पर आना चाहता हूँ कि सारी कलाएँ अनैतिक होती हैं। क्या आप इस मन्तव्य को ठीक मानते हैं? मैं इस तर्क से ठीक मानना चाहूँगा कि नीति विधान की बालिका है; दायरे में रहने की हामी; जबकि कला किसी भी प्रतिबन्ध को विवश माननेवाली त्रिकाल में भी नहीं होती। अत: अनैतिक छोड़ कर वह और हो ही क्या सकती है?

लीलाधर कत्थक की चर्चा पिछले पन्नों में आ चुकी है। उसी भले आदमी के सिलसिले में मुझे ऑस्कर वाइल्ड की याद आयी और इतनी चर्चा चली। जिस 'करम' के लिये ऑस्कर बदनाम हुआ, जेल गया, और (तत्वतः) जान से जाता रहा—उन्नीसवीं सदी के अन्त में—उसी कुकरम के क़रीब काशी, कबीरचौरा के कत्थक लीलाधर का भोजन-भंडारा था, आजीविका थी, बीसवीं सदी के चौबीसवें साल तक ! यह तभी की कथा है।

कत्थक-कला का आरम्भ वैष्णवी-पूजालयों से हुआ हो; पर, अन्त नवाबी दरबारों से हुआ। यानी वैष्णव-सम्प्रदाय में विकसित होने वाली यह भाव-नृत्यकला आराधना से हटकर जब अर्थ-साधना पर उतर आयी—ईश्वर को त्याग नर को रिझाने पर—तभी हलकी, अगंभीर, भव्य-भाव-विरहित हो गयी।

अक्सर अच्छे कत्थक-कुमार को नवाब और मुसलिमकाल के अनेक हिन्दू जागीरदार भी अपनी भोग-सेवा में रख लेते थे—जिसमें सारी वैष्णवता दुर्गन्धित बनकर रह जाती थी। लीलाधर के बेटे राजू को जगरूप ने सीने से लगाकर व्यवहार अभद्र भले ही किया हो—भद्रता की नज़र से—पर, ३५ वर्ष पूर्व की काशी की (अ-) सभ्यता के अनुसार वह अस्वाभाविक नहीं थी। ऐसे खतरों की जगहों पर राजू को लेकर लीलाधर जान-बूझकर जाता था और कोई रक़मी-आसामी उसके आगे भी यदि उसके बेटे को बुरी तबियत से चूम या चिपटा लेता तो लोभी लीलाधर प्रसन्न-अदा के साथ सब कुछ नज़र-अन्दाज़ कर जाता।

इसका परिणाम यह हुआ कि शहर के आवारों में वेश्याओं के प्रति जैसी भावनाएँ थीं, वैसीही कत्थक-लड़कों के प्रति भी। अनेक मनचले तो राजू-जैसे कत्थक-कुमारों को गहरेबाज़ एक्कों पर सनकाते हुए बहरी तरफ़ ले जाते और उनके हुनर देखते; अपने दिखाते। अपनी उम्र में स्वयं वैसेही रहनेवाले अभिभावकों को यह सब बुरा या

अस्वाभाविक लगता भी तो क्या। सो, कत्थकों के कुल या मुहल्ले में चरित्र की परिभाषा वैसी दूधोंधुली, साध्वी, सम्भव नहीं थी जैसी भदैनी-जैसे पक्के मुहल्लों के छुपे-रुस्तमों के वातावरण की थी। देखें तो नाच, गान, सुर-तान के आगे शील-मान-विधान-व्यवधान सम्भव ही नहीं है। जिसने 'क्वचित गानवती सती' कहा—सौ में निन्नानवे बार सच कहा था।

कबीरचौरा मुहल्ले के सभी कत्थक सदाचार-हीन थे ऐसा कहना तो झूठ है; पर, यह सर्वथा सच है कि उनमें जो सचमुच नेक आचरण वाले, बाल-बच्चों के प्रेमी, प्रभु-भक्त थे वे भी अपने घर लौटते थे आधी रात के बाद !—वेश्याओं के मुहल्ले से, हाँ। क्योंकि सारंगी, तबला बजाकर, इस कोठे से उस कोठे, वह अपनी आजीविका कमाते थे। लीलाधर भी वैसाही कत्थक था। कहा गया है कि कबीरचौरा मुहल्ला कत्थक, कायस्थ और कबीर-पंथियों का केन्द्र; पर, कत्थकों के कारण उस मुहल्ले में दालमण्डी की एक-से-एक छोटी-बड़ी रण्डियाँ सुबह, शाम, दोपहर बराबर नजर आती थीं। वे कत्थकों से गाना, नाचना सीखने अक्सर उनके घर ही पर आ जाया करती थीं। उन्हीं में एक वेश्या रानी नाम की थी जिसे लीलाधर कई वर्षों से संगीत-शिक्षा दे रहा था। रानी तवायफ़ होने पर भी काफ़ी दिलफेंक थी। यह तो लीलाधर अनुभव से जानता था। उसका यौवन यद्यपि समाप्त-प्राय था, पर कण्ठ बड़ा ही सुरीला था। लीलाधर अमीर और देखनौट नवयुवकों को रानी की तरफ़ आकर्षित किया करता था। और साफ़ लफ्ज़ों में कहूँ तो वह रानी का उस्ताद ही नहीं 'दल्लाल' भी था। लीलाधर का प्रवेश काशी के एक-से-एक घरानों में। गीत-गोविन्द के पद वह अपने समय में अद्वितीय गाता था। लीलाधर कत्थक का गीत-गोविन्द सुनने के लिए काशी के सुज्ञ-रसिक बँगले-बाग़ीचों में गोष्ठियाँ जोड़ा करते थे। इस तरह उसकी ख्याति रानी के हक़ में और भी

फलदात्री थी। पर—ध्यान रहे ! —रानी के प्रति लीलाधर के मन में कोई बद-विचार नहीं था। वह सच्चे मन से उसका सहायक मात्र था। रानी के लिये इस तरह की आखिरी मदद लीलाधर की यह थी कि उसने भदैनी के ब्राह्मण रईस रत्नशंकर के नाती जगरूप का परिचय उससे करा दिया। पहले जगरूप आकर्षित हुआ इस भाव से जैसे दुनिया न देखा हुआ भोला युवक हो। उसने ऐसा प्रकट किया जैसे बिना रानी उसकी ज़िन्दगानी बे-पानी हो, बे-रस, बे-जान हो जायगी।

रानी ने जानकर जाना जगरूप जवान था। वह मन-ही-मन परम प्रसन्न हुई। यहाँ तक कि जानदार जगरूप से परिचय होने के बाद अधिक रूपसी बन चली ! इसी रानी के लिये जगरूप ने अपनी फूल-सेज छोड़ दी थी; और नेक नव-वधू को न जाने क्या-क्या असुन्दर बातें सुनाकर। इसी रानी की तस्वीर जगरूप के कोट-पॉकेट में प्रेमा अभागिनी को मिली थी। इसी रानी—सुन्दर गानेवाली अधेड़प्राय तवायफ़ को उड़ाकर जगरूप, एक दिन, सारी काशी में कानाफूसियों का छछूँदर छोड़ता हुआ, भदैनी-भवन छोड़ता हुआ, विवाहिता, प्रेमा, प्रियंवदा पत्नी छोड़ता हुआ, मोहमयी मातामही छोड़ता हुआ बम्बई चला गया।

रानी ने समझा जगरूप में उसे—उस उम्र में—गर्मागर्म प्रेमी तो मिला ! ओह, धन्य !! लेकिन जगरूप ने बम्बई में जाकर जमने में सहायता देने के लिये उसको अपना पहला फ़ाइनेन्सर या महाजना मात्र माना। क्योंकि उसके पास तो लाखों की बातों के सिवा एक छदाम तक नहीं था। और रानी जवानी में जमकर कमाई हुई नाचनारी थी।

: १५ :

आज तो खैर खुदा के फ़ज़्लोकरम से इस देश में वेश्याएँ नुमाया हैं ही नहीं, पर यह कथा तो ३०-४० वर्ष पूर्व की है। ३०-४० वर्ष पूर्व या उससे भी पहले पुण्य-पुरी-काशी वाराणसी की यह गति थी कराल-कलिकाल यहाँ तक विकट-व्याप्त हो चला था कि चातुर्वर्ण-व्यवस्था में मुख्य ब्राह्मण लोग ही वेश्या तक की कमाई की चिकनाई पंडिताई के चेहरे पर चमकाने में किंचितमात्र भी आना-कानी नहीं करते थे। कितने द्विज तरुणों को समर्थ गणिकाओं ने रखेल की तरह रख छोड़ा था। ब्राह्मण बहुत अच्छे, वेश्याएँ बहुत बुरी, पर चाँदी की चमचम पगडंडी पर दोनों की चाल एक। वेश्या चाँदी पर उलटी-सीधी हो जाय तो वह स्वधर्म का पालन करती है। लेकिन ऊँची, दार्शनिक नाकवाला द्विज जब चाँदी की चमक से चौंधिया चारो खाने चित्त पसर जाय तब वह क्या करता है—क्या कहा जाय ? यही न कि इस कठिन कलिकाल में चार की जगह एक ही वर्ण बच रहा है : कहिये—पैसा-पकड़-वर्ण।

जगरूप का सहजमन उसी पैसा-पकड़-वर्ण का था। बचपन से तरुणाई तक काशी के कितने ही बड़ों—यानी नामधारी बड़ों—का परिचय का उसको परम निकट से मिला था। 'धन जैसे भी मिले धन्य है' शहरियों की यह व्यवहारिक-परिभाषा जगरूप की बुद्धि में 'टौटेक' यानी चौचक्क यानी सटीक जँच गयी थी। अतः बिलकुल बाज़ारू वेश्या को भी बेवकूफ़ बनाने में हिचक उसे नहीं हुई। उसने सावधानी से ताड़ लिया था, रानी के पास गहने ही कई हज़ार रुपये के थे। साथ ही उसकी संगीत-कला-निपुणता पर भी भरोसा था।

रही रानी—सो, वह गुणवन्ती गणिका होने से दिलफेंक स्त्री थी। साथ ही बरसों के नीरस वेश्या-जीवन से वह ऊब भी गयी थी।

जगरूप के रूप में एक श्रेष्ठ, गुणी, कुलीन, तरुण पुरुष को पहचान और यह ताड़कर कि वह उम्र में भी कुछ छोटा ही होगा, उसको जीवन-संगी बनाने में रानी को कोई घाटे का-सा सौदा नहीं मालूम पड़ा। तय हुआ यह कि दोनों पति-पत्नी की तरह बम्बई में विदित होंगे।

बम्बई पहुँचकर आरम्भ में दोनों धोबी तालाब मुहल्ले के प्रसिद्ध न्यू काश्मीरी होटल में ठहरे। धोबी तालाब से किसी को ऐसा भ्रम न हो कि वहाँ तालाब या धोबी हैं। सारा धोबी तालाब मुहल्ला विशाल-विशाल अट्टालिकाओं, बड़े-बड़े दफ्तरों, बड़ी-बड़ी दुकानों से पुर है। फिर भी नाम है धोबी तालाब।

होटल का मालिक-मैनेजर ५५ साला, बिलौरी आँखें, गुट्ठल, कुन्दे जैसा, चुकन्दर-सा लाल। देखते ही पहले शैतान का साथी लेकिन कुछ देर बाद इनसान का हमशक्ल मालूम पड़ता था। जगरूप ने देखा उसकी आँखें क्या पूरी सर्च-लाइट थीं। रजिस्टर में नाम नोट करते हुए जगरूप और रानी को ध्यान से देख उसने पूछा—

"मिस्टर जगरूप...? शर्मा, वर्मा, सिंह, गुप्ता ?"

"जगरूप शर्मा...।" जगरूप ने कहा।

"यह बहनजी कौन हैं...?"

"माई वाईफ़—।"

"अच्छा—अच्छा...। खाना आपको कैसा लगेगा ? वेजीटेरियन या नान वेजीटेरियन...? हमारे यहाँ दोनों ही व्यवस्थाएँ अलग-अलग हैं।"

"अच्छा प्रश्न किया आपने" जगरूप ने कहा—"हम यहाँ हफ्तों ठहर सकते हैं। तबतक जबतक रिहाइश की कोई अन्य व्यवस्था न हो जाय। हम दोनों ही नान वेजीटेरियन हैं।"

"खुद मैं पसन्द करता हूँ नान वेजीटेरियन डिशें; पर खाता हूँ बिलकुल वेजीटेरियन ! रोगी हो गया हूँ।" यह मोटापा रोग नहीं

तो क्या है ? पर नान वेजीटेरियन ग्राहक और ग्राहिकाओं से मेरे प्राण सहज प्रसन्न रहते हैं। आप तो काशी के पण्डित हैं—जी चाहे जबतक अपना ही घर समझकर रहें—बेफ़िकर।"

लेकिन तेज़-निगाह होटलवाले को विश्वास नहीं हुआ कि काशी का ब्राह्मण—और ब्राह्मणी विशेषतः—मांसाहारिणी होगी। रानी की तरफ़ कनखियों उसने देखा, तो उसकी दृष्टि को अपनी नज़र की प्रतीक्षा में पाया। होटलवाले को देख, फिर अपने सीने की तरफ़ देख नीची नज़र रानी ने निचले होंठ पर धीरे-धीरे जीभ दौड़ाई : जैसे अव्यक्त प्यास विदित कर रही हो।

होटलवाला महा खुर्राट। वह तुरन्त ताड़-सा गया कि हो-न-हो दाल में कुछ काला हो। पर, अपना भाव प्रकट उसने नहीं किया। एक दिन, दो दिन, तीन दिन। चौथे दिन जगरूप जब विशाल बम्बई में अपने योग्य 'जॉब' ढूँढ़ने चला गया और निश्चय हो गया कि ६ बजे सायं के पहले पलटनेवाला नहीं है, तब, दो बजे दोपहर—जबकि होटलों में तुलनात्मक सन्नाटा रहता है—वह जगरूप के दरवाजे पर पहुँचा। उसने हलकी थपकी दी। क्षण-भर बाद दरवाजा खुला और मिसेज़ जगरूप सामने नज़र आयीं।"

"ओह ! आप !" रानी ने सकौतूहल कहा।

"जी—थोड़ी देर पहले शायद आपही यह सौ का नोट मेरे आफ़िस में भूल आयी थीं ?"

"हाँ-हाँ, मैनेजर साहब !" सहसा रानी ने झूठ कहा, "मेरे हाथ से कब छूट रहा इसका अबतक मुझे पता नहीं। आप बड़े ही भले कि लौटा रहे हैं। नहीं तो आजकल आदमी एक रुपये पर अपना ईमान छोड़ देता है।"

"और औरत...?"

"आदमी माने मर्द-औरत दोनों ही....।"

"सच कहती हैं। यह लीजिए नोट। पर, सच कहिएगा—आप ही तो भूल आयी थीं ? क्षमा करियेगा—इस तरह के गाहक मेरे यहाँ आते रहते हैं। इसीलिए पुनः पूछता हूँ।"

"मेरा ही है—भगवान की क़सम।" रानी ने कहा, नोट सँभालती हुई।

इसी समय आया होटल का एक नौकर भागता हुआ घबराया-सा "सेठ, गोरा पुलीस सार्जेण्ट आया है; साथ में कई सिपाही लेकर। कहता है उसका सौ का नोट गुम हो गया है। तलाशी लेगा।"

"चल-चल गोरे को बैठा दफ़्तर में। बहुतेरे देखे हैं। चल, मैं आता हूँ।" होटल-मालिक ने देखा—रानी के हाथ से वह नोट पृथ्वी पर गिर पड़ा। साथ ही वह थर्रा उठी।

"आप डरें नहीं। जब आदमी एक रुपये पर ईमान छोड़ सकता है तब सौ बहुत होते हैं। पर यह बात तय रही कि अब से जबतक आप बम्बई में रहें, मेरी कोई बात टालेंगी नहीं। पुलीस को मैं समझा लूँगा—लेकिन थोड़ी ही देर में एक साहब आपसे मिलने आयें तो आप नाराज़ उन्हें न करना। ये रुपये पेशगी रहे। आज ही नहीं जब भी कभी मैं कोई काम आपको दूँगा अच्छे, ख़ासे दामोंवाला काम।"

और थोड़ी ही देर बाद रानी के रूम में सूट-बूट-धारी, लम्बा-तगड़ा एक महाराष्ट्रीय आया। वह प्रायः दो घण्टे तक रानी के साथ रहा। इसी बीच रानी को पता चला कि वह आदमी पैसोंवाला और इंजिनीयर है तथा उस आदमी को पता चला कि रानी गाती भी बख़ूबी है। रानी उस इंजिनीयर को ऐसी पसन्द आगयी कि उसने उसको फ़्लैट दिलवाने तथा अपनी पत्नी का संगीत-शिक्षिका बनवाने तथा इसी बहाने अपने घर तक पहुँचाने का चारा फेंका।

"तुम्हारा आदमी क्या करता है ?" इंजिनीयर ने रानी से पूछा।

"अभी तो हम आये ही हैं। आज चौथा दिन है। वह काम-धन्धे की तलाश में हैं।"

"कैसा काम चाहिए...?"

"वह एम. ए. हैं।"

"तब तो अच्छा है, दफ़्तर वगैरह में कोई काम...।"

"वह अच्छे, होशियार मूर्तिकार हैं।...मामूली मिट्टी से चाहें तो जिसकी मूर्ति, चुटकियों में, बना सकते हैं।"

"वाह ! यह मामूली हुनर नहीं है। पर, मूर्तिकार से जियादा कमाई बम्बई-जैसे शहरों में चित्रकार सहज ही कर सकता है।"

"वह चित्रकार भी हैं। और एक्टर भी। यद्यपि किसी व्यापारी-कम्पनी में कभी काम नहीं किया, पर मौक़ा मिले तो वह बहुत ही तेज-जहन आदमी हैं।"

"मिलेगा मौक़ा" इंजिनीयर ने कहा, "तुम्हारा आदमी अगर चित्रकार है, पेंटिंग जानता है, तो मैं उसे एक फ़िल्म कम्पनी में पर्दे रंगने का काम कल दिला सकता हूँ।"

"बड़ी मेहरबानी..."

"पर—तुम्हारे लिये रानी बाई।" इंजिनीयर ने कहा, "मेरे-जैसा आदमी एक बार जिसे मान लेता है" मान ही लेता है। तुम्हारे लिये जान हाजिर है।"

"झूठ...।"

"सच।"

"तो अपनी यह हीरेवाली अँगूठी मुझे दीजिए पहले।"

"तुम्हें अँटेगी नहीं, ले लो—भले।"

"और यह सोने की कलाई-घड़ी भी...।"

"यह मर्दाना डिज़ाइन की है।"—तुम्हारे लिये ज़नानी घड़ी ला दूँगा। इसे ही लेना है, तो ले सकती हो।"

पर्स में भी कुछ है ? जितने भी रुपये हों मुझे अभी दे दो।"

इंजिनीयर ने जेब से चमड़े का बड़ा पर्स निकाला और उसे रानी के सामने उलट दिया।

: १६ :

जगरूप तीन दिनों तक लगातार इलाहाबाद के एक वैश्य मित्र को ढूँढ़ता रहा, जिसका पता उसे भूल गया था। उसने एक प्रकाशक परिचित से सहायता चाही; पर, सफलता न मिली। इलाहाबाद के कालकादेवी-स्थित प्रसिद्ध ज्योतिषी धनपति पाण्डेय से पूछा। इस लेहाज़ से कि शायद एक इलाहाबादी दूसरे इलाहाबादी को जानता हो—पर, वहाँ भी कोई बात बनी नहीं। तब उसने मजाक़न ज्योतिषी से कहा कि : आप तो त्रिकालज्ञ हैं, इलाहाबाद के भूत—पर भारी—फ़िल्म डिस्ट्रिब्यूटर श्रीचन्द का पता नहीं लगा सकते क्या ? ज्योतिषी ने कहा : अवश्य। परन्तु बिना दक्षिणा ज्योतिष का दिव्य-चक्र चलना तो दूर हिलता भी नहीं। इस पर जगरूप ने ज्योतिषी के आगे रुपया सवा पेश किया। "अब कहिये !"

"फ़िल्मवाले का पता..." ज्योतिषी ने दक्षिणा टेंट करते हुए इत्मी-नान से बतलाया : "किसी फ़िल्म कंपनी वाले से पूछो। यहाँ दादर और चौपाटी के आस-पास अनेक फ़िल्म-कंपनियाँ हैं। किसी एक में दरि-याफ़्त करो।" इस पर जब जगरूप चला तो चघड़ ज्योतिषी ने उसे रोका : "देखो, यदि तुम्हारा काम सिद्ध हो जाय, तो मारुती को सवा पाव लड्डू चढ़ाना और फिर उसे पाँच सेर लड्डुओं में मिलाकर मेरे यहाँ प्रसाद दे जाना। हाँ। भूलना नहीं। ज्योतिष्य दिव्य यानी दैव-विद्या है।"

जगरूप हँसा—ठठाकर।

"हँसे क्यों ?"

"कि मारुती को नैवेद्य सवा पाव और मनुष्य को प्रसाद पाँच सेर ! यदि मैं सवा पाँच सेर लड्डु चढ़ाऊँ और फिर सारे आपको दे जाऊँ तो कोई फ़र्क पड़ेगा ?"

"पसेरी-पहाड़ का ! मामूली फ़र्क नहीं। सवा पाँच सेर मन्दिर में ले जाओगे, तो उसमें से पाओगे सवा पाव। बाक़ी सब पुजारी के। मारुती ख़ुद खाते होते तो भी कोई बात होती। जजमान और देवता के बीच में सर्वस्वापहारी यह प्राणी—पुजारी धर्म के वातावरण में रस भंग-सा करता है।"

जगरूप ज्योतिषी के यहाँ से चल, ट्राम पकड़, चौपाटी आया और किसी फ़िल्म कंपनी का बोर्ड ढूँढ़ने लगा। किसी ने बतलाया कि एक फ़िल्म कंपनी फ्रेंच पुल के नीचे है जो निकट ही है। उक्त फ़िल्म कंपनी के फाटक पर भी जगरूप के पहुँचते देर न लगी। लेकिन निर्दयी पठान ने उसको कंपनी के फाटक के अन्दर घुसने की इजाज़त दी ही नहीं। देर तक फाटक के पास खड़ा वह देखता रहा कि मोटर से आने वाले तो सीधे स्टूडियो में दाखिल हो जाते थे पठान का सलाम लेते हुए लेकिन पैदल घुसनेवालों को पठान कर्कशता से रोकता था।

तुरन्त ही जगरूप के दिमाग़ में एक चमक चमकी। जैसे कोई युक्ति उसे सूझी। वह वहाँ से हट आधा फ़र्लांग दूर मोटर-टैक्सी-स्टैण्ड पर आया और एक टैक्सीवाले से यह तय करने लगा कि केवल सामने की स्टूडियो के अन्दर दाखिल करने का वह क्या लेगा ? टैक्सीवाला जगरूप का मक़सद ताड़ गया।

"मज़दूरी मतलब दूरी तो कुछ भी नहीं," उसने सुनाया "यों भी छोड़ा जा सकता है—पर मैं दो रुपए से कम नहीं लूँगा।"

"चलो !" जगरूप ने कहा।

"पहले रुपये दे दो। समझो कि स्टूडियो में दाखिल ही हो।" टैक्सी में बैठते ही जगरूप ने दो रुपए टैक्सीवाले को अग्रिम दिये। और टैक्सी चली, बढ़ी, फ़िल्म कंपनी के फाटक पर आयी।

बिना यह देखे कि अन्दर कौन है, पहरेदार पठान ने सैनिक सलामी दी। और जगरूप जीवन में पहली बार फ़िल्म कंपनी की चहारदीवारी के अन्दर। अन्दर भी फ़िल्म स्टूडियो तो दर अन्दर था। अभी जगरूप कंपनी के आफ़िस के निकट था। फिर भी फ़िल्म कंपनी की हवा से ही उसे ऐसी तृप्ति हुई जैसी तृप्ति पुराने टाइप के हिन्दुओं को तीर्थ की हवा में विदित होती है। जगन्नाथपुरी पहुँचकर जैसे कोई आस्तिक अपने को कृतकृत्य माने वैसा ही कुछ अनुभव जगरूप के मन को उस फ़िल्म कंपनी के दफ़्तर के सामने हुआ। वह आफ़िसों के सामने लगे बोर्डों को पढ़ने लगा और 'इन्क्वायिरी' के सामने रुका। अन्दर एक अधेड़ आदमी बैठा था...

"यस्सर ?" जगरूप की तरफ़ मुख़ातिब हो उसने प्रश्नवाचक मुख बनाया।

"क्षमा कीजियेगा, मैं मिस्टर श्रीचन्द गुप्ता के बारे में जानना चाहता हूँ।"

"लेकिन मिस्टर श्रीचन्द गुप्ता का फ़िल्मी-धन्धे से पिछले दो साल से कोई वास्ता नहीं रहा।"

"यह मुझे मालूम है।" शिष्टता से जगरूप ने कहा—"मैं उनका वर्त्तमान पता जानना चाहता था।"

"जवान दोस्त !" इन्क्वायिरीवाले ने हँसकर कहा—"मालूम हो भी, तो तुम-जैसे नौजवान को मिस्टर श्रीचन्द गुप्ता का पता बतलाना मॉरली मैं ना-मुनासिब मानता हूँ।

"पर—महाशय !" जगरूप ने भद्र आजिज़ी दिखायी, "वह मेरे पुराने बन्धु हैं। पिछले तीन दिनों से मैं परेशान हूँ उनके पते के पीछे।

बड़ी मिहरबानी होगी यदि आप बतला सकें।"

"नम्बर तेरह, वालकेश्वर रोड...।"

जगरूप नम्बर नोट करने लगा।

"लेकिन" इन्क्वायिरीवाले ने पुनः अर्थ भरे-भाव से कहा—"तुम्हें मजे में मालूम होगा, यह तेरह नंबर कैसा कु-नंबर माना जाता है।"

"ज़ियादातर अंग्रेजों : युरोपियनों में।"

"और 'तीन-तेरह' कहाँ का महाविरा है ?"

जगरूप चुप रहा।

"और 'तेरही' ? कुछ भी हो श्रीचन्द चौबीसों घंटे तुम्हें उसी बँगले में मिलेंगे।"

"मतलब ? वह घूमने-फिरने, सभा-सोसायिटी वग़ैरह में भी नहीं जाते ?"

"तुमने कहा तुम उनके मित्र हो; पर, परिज्ञान इतना भी नहीं कि श्रीचन्द गुप्त किस स्थिति में कब से हैं ! अब वह स्वतन्त्र श्रीचन्द नहीं रहे।"

"अर्थात्? "

" 'बन्धु' तुमने कहा था ? बन्धु बन्धन में हैं।"

"मैं समझ नहीं पा रहा। बन्धन मानी : जेल में ?"

"जेल गवर्नमेन्ट देती है, जिसकी एक सीमा, अवधि होती है। श्रीचन्दजी ,की जेल असीम आजन्म-जैसी है।"

"आप तो हैरत-भरी बातें बघार रहे हैं ! कुछ साफ़ भी फ़रमायेंगे ?"

"तुम जा ही रहे हो—नंबर तेरह ! देखने में चुस्त-चालाक युवक मालूम पड़ते हो। अपने बन्धु का बन्धन अपनी आँखों देखोगे।"

"कृपा कीजिये—चक्कर में न डालिए।"

"एक अनजान नौजवान चक्कर से बचे इसीलिये—किसी हदतक

भद्रता भुलाकर—मैंने तुम से तुम्हारे बन्धु-श्री के बारे में चर्चा की। वह सरकारी-बन्धन में नहीं, अपने-आप विकट-बटे-बन्धन में जकड़े हुए हैं। सुनो : फिल्म डिस्ट्रिब्यूशन का एकाधिकार नष्ट, बर्मा, सुमित्रा, जावा तक का व्यापार नष्ट, क्रेडिट बाज़ार नष्ट—दाने-दाने के मोहताज ! तब—तब तुम्हें पता नहीं ?"

"नहीं तो—तब क्या हुआ !

"तुम्हारे बन्धु वेश्या बन गये।"

"क्या मतलब ? मर्द वेश्या बन गया ?"

"जी हाँ जनाब—किसी मर्द-मार, मालदार मगर बूढ़ी सेठानी ने उन्हें रख लिया है ?"

"रख लिया है ?

"हाँ-हाँ, जैसे समर्थ मर्द औरत को रखता है, वैसेही समर्थ औरत बंबई शहर में मर्द को रखती है। सो वह बूढ़ी, मर्द-मार, मनचली आपके बन्धु बेचारे को बँगले के बाहर तक निकलने नहीं देती।

"क्यों ?"

"तुम अपनी माशूका को बाजार घूमने दोगे—? नहीं। उसी तरह वह औरत भी अपने रखेल, अपने माशूक को अपने ही लिये रखती है। लेकिन तुम तो उधर जा ही रहे हो; देखकर 'पतियाना'।"

इसी समय एक तगड़ा, तपाकदार आदमी बातों में मशगूल जगरूप के पीछे की तरफ़ से 'इन्क्वायिरी' के दरवाज़े पर आया। उसको देखते ही अन्दरवाला शख्श, कुर्सी छोड़कर, अदब से खड़ा हो गया।

"अरे आठविले !" अफ़सराना पर सरस-भाव से उसने पूछा "पेन्टर अभी आया नहीं। सेट रुका हुआ है, शूटिंग बहुत ही ज़रूरी है। तूने फ़ोन किया तो क्या जवाब मिला ?"

"सेठ !" आठविले ने अदब से सुनाया—"आज फ़ोर्ट में एक आर्ट एक्जिबिशन है कि नहीं; आज शाम तक शायद ही कोई अच्छा

पेन्टर मिल सके...।"

अब सेठ की नज़र जगरूप पर गयी। गर्दन तक झूलते केश, सवा छ: फुट लम्बा, जवान, अच्छा कटा-सिला सूट, बूट, रंगीली नेकटाई...।

"तुम क्या चाहते हो ?" आकर्षित-जैसा होकर सेठ ने जगरूप से पूछा।

"आया तो था मैं अपने दोस्त श्रीचन्द गुप्ता का पता-ठिकाना पूछने जिसे आठविले साहब ने मिहरबानी कर बतला भी दिया है। बीच में दख़ल देने की माफ़ी चाहता हूँ : पेन्टर मैं भी हूँ। क्या पेन्ट करना है ?"

"तुम्हारा नाम ?"

"जगरूप।"

"कहाँ, किस कालेज में आर्ट सीखा ?"

"मैं काम आपका चला दूँगा, पूरा विश्वास-भरोसा है। कृपया पहले काम मुझे बतलाइये। रही आर्ट-कालेज की बात, सो मेरा तो यह तजरिबा है कि अक्सर, आर्ट-कालेज में सीखनेवालों से शौक़िया साधनेवाले बेहतर आर्ट जानते हैं। वैसे मैं बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय का एम० ए० हूँ जिसका अर्थ होता है : मास्टर आव आर्ट। लेकिन आप बख़ूबी जानते हैं यह आर्ट पेन्टिंग का नहीं, साहित्य का है।

"गुड ! मेरे साथ आओ। स्टूडियो के अन्दर पहले काम समझलो।"

और बात जब बननेवाली होती है तब यों ही, अनायास ही, बन जाती है। वह तगड़ा आदमी उस फ़िल्म कम्पनी का पारसी मालिक रुस्तम सेठ था। असिल में ज़ोरदार-व्यक्तित्व दुनिया में अक्सर जो काम करता है अन्य गुण बमुश्किल कर पाते हैं। जगरूप का व्यक्तित्व ऐसा ही कुछ था। पहले उसीने रास्ता बनाया। सिद्धेश्वरी का रथ

बाद में आया।

काम कोई मुश्किल नहीं था। एक राजस्थानी जागीरदार के ड्राइंग-रूम की सेटिंग का पर्दा रँगना था। जगरूप ने वह काम तो किया ही, साथ ही सेटिंग्स् मास्टर को फ़र्नीचर वग़ैर सही-सही चुनने में भी जानकारी और कलापूर्ण सलाहें दीं। सारा काम कोई चार घंटे का था। सेट तैयार हो जाने के बाद रुस्तम सेठ ने जगरूप की पीठ ठोकी—"शाबास! आज तुम न मिल जाते तो शूटिंग हो ही न पाती। कहाँ रहते हो? कल फिर मुझसे मिलो। तब तक यह लो!" रुस्तमजी ने जगरूप के हाथ में सौ-सौ के दो नोट पकड़ाये।

: १७ :

नम्बर १३ वालकेश्वर रोड के मिलने में जगरूप को कोई भी असुविधा न हुई। जब वह पहुँचा तब उस बँगले के बाहर ही अधेड़ावस्था से भी आगे उम्रवाली एक दुबली-पतली, मटमैली-गोरी स्त्री को नौकरानी को डाट पिलाते पाया। वह स्त्री इसे अन्दर घुसते हुए देखकर शान्त तो सहसा हो गयी लेकिन उसके चेहरे पर रूखा-रोष फिर भी बना ही था।

"कहो भाई, शूँ काम छे?" आधी हिन्दी और आधी गुजराती में पूछा उसने।

"मैं श्रीचन्दजी की तलाश में आया हूँ।"

"कहाँ से आये?"

"काशी—बनारस से। श्रीचन्दजी मेरे बाल-बन्धु हैं।"

"पर अभी तो वह बाहर गये हुए हैं। अभी-अभी ही गये हैं और शायद शाम के पहले लौटनेवाले नहीं हैं... ।"

"क्या ? बाहर गये हैं श्रीचन्दजी ? मुझे तो बतलाया गया था कि बँगले-बाहर कभी जाते ही नहीं... ।"

"अच्छा !" हँसती आँखों से तरुण जगरूप को ताकती उस स्त्री ने कहा—"किसने बतलाया ? क्या बतलायेंगे—मिहरबानी कर ?"

"मैं एक फ़िल्म कम्पनी से श्रीचन्दजी का पता निकालकर यहाँ आया हूँ... ।"

"नाश हो इन फ़िल्म-वालों का !" घृणा से उस स्त्री ने सुनाया "फ़िल्म का यह धन्धा ही तो उन्हें ले डूबा... । मैं न होती तो आज बाबूजी जेलखाने में होते । पावनेदारों के दावों से बँधे हुए । यह धन्धा नहीं है—यही फ़िल्मी-रोजगार—यह तो एक अन्धड़ है । इसकी तेज़ी में सोना-चाँदी की बरसात बला से होती हो; पर, पगड़ियाँ, टोपियाँ, इज़्ज़तें भी हवा हो जाती हैं ।...पर...लो ! वह तो लौटे आ रहे हैं !"

सचमुच श्रीचन्द बँगले के अहाते में दाख़िल होता दिखायी पड़ा। जगरूप से आँखें चार होते ही, पहचानते ही, श्रीचन्द ने ललककर उसको कण्ठ से लगा लिया "तुम ? जगरूप ?? मेरी आँखें विश्वास नहीं करना चाहतीं । बाँका बनारस छोड़ तुम बम्बई में ?"

"क्यों ?" जगरूप ने पूछा "बम्बई मेरे लिये मुज़िर है क्या ?"

"मुज़िर या मुआफ़िक का फ़ैसला तो तब हो जब कुछ दिन यहाँ की आबोहवा में कोई रहे । मैं तो यह कह रहा था कि जियादातर यू० पी० वाले इतने कूप-मण्डूक होते हैं कि जहाँ पैदा होंगे वहीं भूखों अभावों, अपमानों मर जायेंगे; पर, घर-बाहर क़दम निकालना हराम है उन्हें । बनारसियों ने तो इस मसले पर एक दोहा तक गढ़ रखा है : "चना चबेना गंग-जल जो पुरवै करतार; काशी कभू न छोड़िये विश्वनाथ दरबार ।" मैं ग़लत तो नहीं कहता हूँ ? लेकिन ओह !" उस स्त्री की

तरफ़ देखकर श्रीचन्द ने कहा : "सुधाजी, क्षमा करना ! बहुत दिनों बाद मित्र को पाने की प्रसन्नता में आपसे परिचय कराना ही भूल गया—मिस्टर जगरूप, एम० ए०; रईस बनारस (जगरूप से) आप मेरी पत्नी सुधादेवी... ।"

"नमस्ते !" जगरूप ने सुधा को नमन किया, "बड़े भाग्य कि श्रीचन्द के पहले मुझे श्री लक्ष्मीजी के दर्शन मिले ।"

"यह मेरा परम मित्र है सुधाजी ।" श्रीचन्द ने बतलाया । "हिन्दू स्कूल और कालेज में हम साथ-ही-साथ छः साल तक पढ़े हुए हैं । यह बेहूदा भी भारी है । अगर कोई बेहूदगी कर बैठे तो ध्यान न दीजियेगा । इसके लिये ज़रा चाय वग़ैरह—आओ बेटा ! इधर बरामदे में बैठें ।" बेतकल्लुफ ढंग से बनारसी लहजे में श्रीचन्द ने कहा और जगरूप का हाथ पकड़कर उस सजे हुए बरामदे की तरफ़ प्रायः घसीट ले चला । अब जगरूप की बारी थी बनारसी-रंग बाँधने की । उसने श्रीचन्द के कान के पास मुँह ले जाकर धीरे से कहा : "अबे साले ! यह तो तेरी अम्मा मालूम पड़ती है ।"

"अरे चुप !" श्रीचन्द ने जगरूप के मुँह पर अपना हाथ रखते कहा, "सुन लेगी, तो तेरे साथ मैं भी बँगले-बाहर निकाला जाऊँगा ।"

"और इलाहाबाद वाली भाभी... ?"

"इलाहाबाद है । इसे बबई वाली भाभी समझो ।"

"इसको मालूम है कि तेरी शादी हो चुकी है ?"

"ना !"

"तो मैं बतलाऊँगा । आने तो दे चाय लेकर—साले ! सिनेमा की डिस्ट्रीब्यूटरी से मुँह काला किया तो अब चिड़ियाँ फँसाता फिरता है ?"

"अरे साले चुप रह ! दीवार के भी कान होते हैं—१० लाख की वेवा-राँड़ सेठानी है और सारे-का-सारा बन्देख़ाँ के ही पल्ले पड़नेवाला है ? बशर्ते कि तू... ।"

"मैं तो अभी भंडा फोड़ता हूँ। आने भी दे... ।"

"तेरे हाथ जोड़ूँ !"

"तो मुझे भी ऐसी ही कोई मालदार आसामी बतला।"

"तू आपही पा जायगा। यह बम्बई शहर है। यहाँ माले-मस्त सेठ सुन्दरियों के पीछे सर्वस्व लुटाते हैं और फिर अक्सर, उन पर अधिकार पाते ही काल के गाल में चले जाते हैं। तब वे ही सुन्दरियाँ तगड़े, तन्दुरुस्त, तेजस्वी तरुणों के पीछे सर्वस्व लुटाने की लोभ-ललित-लीलाएँ करती हैं।

"माले हराम बूद सूये हराम गश्त...।"

"कुछ भी हो...।" ललचाये-मन से श्रीचन्द ने कहा—"ऐश करने वाले धन-पति तो बंबई में ही नज़र आते हैं।"

"और कलकत्ते में...?"

"शादोनादिर; कभी-कदाच !"

"और बंबई में...?"

"हर मौसम में...।"

"मैं तो कई दिनों से गली-गली चक्कर काट रहा हूँ लेकिन एक भी दिल-फेंक माशूक़ नज़र नहीं आया।"

"अबे साले। कब जनमा कब राक्षस हुआ। अभी कल तो आया है। पहले कुछ दिन चौपाटी का सेव-गाँठिया खाकर इस चकार चेहरे पर बंबैया, सुमुद्री, नमकीन, पानी तो चढ़ा। ज़रूर फँसाया जायगा।"

"फँसाया ?"

"ऐसा कि याद करे !"

"चल-चल !" जगरूप ने जवान अदा से सुनाया—"मेरे मते एक मुहब्बत का ही फन्दा ऐसा होता जिसमें फँसने में मज़ा-ही-मज़ा होता है।"

"मज़ा-ही-मज़ा...?"

"बे-रेशे लँगड़े आम की तरह, बे-दानाअंगूर की तरह।"

"भोगने योग्य ऐसा कोई सुख नहीं होता जगरूप जिसे बे-रेशा बे-दाना, माना जा सके। हर नशे में खुमार, हर चढ़ाव में उतार।"

"वाह बेटा!" जगरूप ने कहा "तू तो देखता हूँ अम्माजी के संसर्ग से दार्शनिक हो गया है!—नाटक की भाषा बोलने लगा! मैं कहे देता हूँ। जल्द ही कोई चिड़िया बन्दे खाँ के लिए भी नहीं फँसवायेगा, तो मैं तेरी सारी क़लई खोलकर रख दूँगा।"

"कुछ ही दिनों की बात है...।" श्रीचन्द ने जैसे कुछ याद करके चाव से सुनाना शुरू किया "बंबई के विख्यात ऐय्याश सेठ पूनमचन्द झवेरी को पता पड़ा कि उसके प्रतिद्वन्द्वी सेठ अब्दुल भाई बोहरे ने काश्मीर की एक निहायत सुन्दरी औरत को, बड़े जतन से, बंबई बुलाया है। औरत भी लाख में एक है। बस—सेठ पूनमचन्द झवेरी के गुर्गे मौक़ों पर तैनात हो गये। कुछ ऐसा षड्यन्त्र रचा गया कि ट्रेन से उतरकर अब्दुल भाई की मोटर की जगह वह नाज़नी सेठ पूनमचन्द की रोल्स राईस गाड़ी में आ गयी जिसमें सेठ स्वयं बिराजमान थे।

"पर आप तो अब्दुल भाई-जैसे नहीं मालूम पड़ते...?"

"वह मेरा जिगरी दोस्त है। एक रूह दो क़ालिब।' पूनमचन्द सेठ ने सुन्दरी से कहा—"मुझे वही समझो।" सेठ ने काश्मीरी कामिनी को कण्ठ से लगाने की कोशिश की; परन्तु वह चिकनी मछली-सी गाड़ी के दूसरे कोने में सटक गयी—"सेठ अब्दुल..." "उसने सुनाया। एक ही आदमी हैं, जो एक-एक चुम्बन के लिए दो-दो हज़ार रुपये दे सकते हैं,—विना माथे पर शिकन डाले।"

"तुम मेरे निकट तो आओ? पूनमचन्द झवेरी ने कहा "मैं तुम्हें एक चुम्बन के लिए तीन हज़ार रुपये दूँगा।" सेठ ने सोचा अब सुन्दरी उसकी गोद में ही होगी। पर वह थी काश्मीर की खेली हुई

सुन्दरी : "अब्दुल सेठ का मुक़ाबला भला क्या खा कर कोई करेगा ? आप कहते हैं तीन हज़ार रुपये—हिः ! लेंगे बस एक बोसा। यही तो ? अब्दुल सेठ दो-दो हज़ार के बोसे तबतक लेते हैं जबतक मैं देती रहती हूँ।" कहने का उद्देश्य यह कि श्रीचन्द ने कहा—उस शोख़ नाजनी ने अच्छी तरह मुट्ठी में कर सेठ पूनमचन्द झवेरी से एक ही रात के (कोई मानेगा ?) सात लाख रुपये ऐंठे ! और झवेरी सेठ ने ललककर दिये। कि उनका प्रतिद्वन्द्वी नीचा देखे कि उसकी पकी-पकाई बिरियानी किस तरह उड़ायी गयी !"

"अभी जियादा दिन नहीं हुए होंगे" जगरूप ने सुनाया "मैंने काशी में, 'बाम्बे क्रानिकल' पेपर में, किसी ऐसे ही नाम के सेठ के बारे में समाचार पढ़ा था कि उसने सट्टे में ज़बरदस्त हार खाने के बाद एक पहाड़ी से समुद्र में छलाँग मार आत्महत्या कर ली।"

"वही—वही पूनमचन्द झवेरी ! वही। क्या कहावत है अंग्रेज़ों की ? कि जो बात बोता है उसे झंझावात की फ़सल काटना पड़ती ही है।"

इसी समय गृहस्वामिनी चाय आदि लेकर आयीं—"सुधाजी," श्रीचन्द ने प्रसन्न सुनाया—"यह मेरा मित्र जगरूप सचमुच जगरूप है। एम० ए० पास, चित्रकार, मूर्तिकार, दर्ज़ी, हारमोनियम मास्टर, नाटक-लेखक—कहा न यह गुणी नहीं, गुणियों का मजमूआ है।"

"अभी बंबई में कहाँ रह रहे हो भाई ?" सुधा ने आवभगत के भाव में पूछा।

"अभी तो धोबी तालाब के एक होटल में ठहरा हुआ हूँ। यह वालकेश्वर रोड मुहल्ला है तो बड़ा मनोमोहक। क्या इधर जगह मिल सकेगी ?"

"साथ में अगर बाई है तो तुरन्त—लेकिन आदमी अगर छड़ा है तो मुश्किल है। आपकी बाई...?" प्रश्न करती हुई सुधा कुछ लेने

चली गयी।

"है न ?" जगरूप ने जवाब दिया।

सुधा को किंचित दूर देख श्रीचन्द ने पूछा—"कैसी बाई बे! भाभीजी को लाया है साथ क्या ? वह तो बनारस से बंबई आनेवाली नहीं। साले! चिड़िया को जेब में रखकर यों ही 'चिड़िया-चिड़िया' रट लगाये था। कहाँ की है ?"

"विशुद्ध काशी-वासिनी...।"

"कौन—भला ?"

"गन्धर्व-ललना रानी... ।"

"तवायफ़ ?"

"तवायफ़ जब थी; थी। फ़िलहाल तो मेरी वायिफ़ है, तवायफ़ नहीं।"

"अबे हरामी! तवायफ़ भी कहीं वायफ़ हो सकती है ?"

"क्यों ? जब पुरुष ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—चतुरंग-रूप बदल सकता है, तब स्त्री पर कोई प्रतिबन्ध है क्या ?" तब तक सुधा सिंके हुए पापड़ लेकर आयी, दूर ही से सुनाती—"बहनजी हैं, तो जगह ताबड़तोड़, तद्दन, मिल जायगी।"

"ताबड़तोड, तद्दन ?" सुधा का जगरूप पर प्रसाद श्रीचन्द के अन्तरमन को जैसे सुहाया नहीं। उसने कहा "मालाबार पहाड़ पर आनन-फानन स्थान मिलना मुमकिन है, मैं तो नहीं मानता।"

"मगर मैं मानती हूँ।" अड़-सी गयी सुधा।

"कैसे आप मानती हैं ? मुझे तो पता नहीं। कहाँ कोई जगह है ?"

"फ़िलहाल तो दो कमरे भाई जी को मैं इसी बँगले में दे सकती हूँ। तबतक के लिये जबतक दूसरी जगह मिल न जाय।"

"अनेक धन्यवाद !" विनम्र-भाव से जगरूप ने श्रीचन्द द्वारा

अपनी तरफ बढ़ायी चाय की प्याली गृह-स्वामिनी की तरफ़ बढ़ाते हुए कहा।

"आप यहाँ धन्धा क्या करेंगे ?"

"मेरा इरादा फ़िल्म लाइन पकड़ने का...।"

"चौपट हो जाओगे मिस्टर।" मर्यादा से किंचित हट सुधा ने सुनाया "देखो अपने दोस्त की तरफ़ ! फ़िल्म-बाज़ार में एक दिन यह हजरत 'हार्ट के किंग' थे—आगे-पीछे बल्लमदार-चोपदार चलते थे। —पर, आज ? चोपदार नहीं, बल्लमदार नहीं, किंग-पन नहीं, रहा हार्ट जिसे रोज़ ही तो मैं हजरत के सीने में टटोलती हूँ कि है तो कहाँ ? और गया तो कहा ?"

"वाह, सुधा जी—क्या बात आप कह गयीं !" जगरूप ने चापलूसी की (जिससे स्त्री परम प्रसन्न होती है !) "इस मेरे यार के पास सूरत है, सीरत है, हिकमत और दौलत है; पर, हार्ट इसका कहाँ है यही हैरानी मुझे भी बराबर रही।"है ? क्या कहती हैं आप ?"

"पथरा है ! हार्ट की तलाश में मेरे पल्ले तो पथरा ही पड़ा, एक इन्हीं नहीं—सारी मर्द जाति में...।"

"श्रीचन्द के बारे में आप भले चाहें जो कहें लेकिन—मैं माफ़ी चाहता हूँ। सारी मर्द जाति का अन्दाज़ एक से कैसे लग सकता है...?"

'हम स्त्रियाँ तो भाई ! एक ही चावल से भगौना-भरे भात का भेद भाँप लेती हैं।"

"खूब !" जगरूप ने श्रीचन्द की तरफ़ देखकर सुनाया, "बहनजी की बातों से आनन्द आ गया !"

"आनन्द आपको आ गया ?" सुधा ने सुनाया "मेरी बातों से ? लेकिन आपके मित्र की तो बराबर यही शिकायत रही है कि मुझे बोलना ही नहीं आता ...।"

"यह क्या जाने—क़द्रे गौहर शाहदानद आवदानद जौहरी !" जगरूप ने सुनाया।

: १८ :

बनारस के विकृत-विलासी, प्रायः जागीरदार ब्राह्मण-कुल के लड़ैते जगरूप के जीवन का परम आदर्श था खाना-पीना और जागीरदारी ठाट-बाट से ऐश आराम करना। जागीरदारी ठाट माने माल क़र्ज़ का हो या नक़्द ख़रीदा, अपना हो या पराया धूमधाम से उसे उड़ाना। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये, आज भी—यह कहानी तो एक युग-पूर्व की है—सिनेमा कंपनी से बढ़कर दूसरा स्थल शायद ही कोई हो। सो जागीरदारी का जनाज़ा उठ जाने के बाद भी आज के; टकों के; जागीरदार फ़िल्म-धन्धे के आस-पास दीपक-पतिंगों-से मँड़लाते हुए मरते दिखायी पड़ते हैं। सो, फ़िल्म कंपनी से जीवन आरंभ करने में जगरूप ने अपने जाने, सवा सोलह आने सही मार्ग चुना था। भाग्य ने भी उसका ख़ूब ही साथ दिया। दूसरी बार स्टूडियो में पहुँचने पर रुस्तम सेठ ने उससे पूछा :

"तुम एक्टिंग कर सकते हो ?"

"बख़ूबी सेठ" जगरूप ने चमड़े के बेग से कई तस्वीरें निकाल कर रुस्तम सेठ के हाथ में दीं। जब मैं कालेज में पढ़ता था, दुर्गादास, नाटक में दुर्गादास के रूप में 'मेवाड़-पतन' में बूढ़े शेर सरदार गोविन्द सिंह के रूप में—यह देखें—औरंगज़ेब के रूप में।"

"ठीक...।" कुछ विचारता हुआ रुस्तम सेठ बोला "मुझे एक 'विलन' करेक्टर करने वाले एक्टर की 'बगुला भगत' पिक्चर के लिये ज़रूरत

है। तुम्हें मैं फ़िलहाल साढ़े चार सौ रुपये माहवार दूँगा।"

"धन्यवाद अनेक ! रुस्तम सेठ ?" जगरूप ने सोत्साह सुनाया "रुपये तो आप लाख दे सकते हैं लेनेवाला होना चाहिये। मैं खल-चरित्र की एक्टिंग करने को तैयार हूँ।"

संयोग की बात 'बगुला भगत' पिक्चर की शूटिंग आधी भी न हो पायी थी कि डाइरेक्टर लल्लूभाई हार्ट फ़ेल हो जाने से जान से जाते रहे।

इधर अबतक की शूटिंग में जगरूप ने अपनी चौरंगी-योग्यता दिखला कर रुस्तम सेठ को प्रसन्न कर लिया था। सो 'बगुला भगत' का शेषभाग—खल-नायक का काम अंजाम देते हुए भी जगरूप ही ने डाइरेक्ट किया और ख़ूब किया। जिस तस्वीर की तैयारी के लिये लल्लूभाई ने आठ महीने तय कर रखे थे उसको जगरूप ने अथक परिश्रम से साढ़े चार ही महीने में तैयार कर दिया। यह मूक वचन अथवा साइलेंट फ़िल्म-काल की कथा है। अभी बोलती मशीनों का आगमन भारत में नहीं हुआ था। 'बगुला भगत' तस्वीर कुछ ऐसी जन-प्रिय हुई कि भारत ही नहीं, बर्मा, सिंहापुर, सिलोन के फ़िल्म रसिकों ने भी उसे बारम्बार देखा। अब जगरूप की नियुक्ति डाइरेक्टर की तरह हो गई। ऐसा डाइरेक्टर जिसके मुक़ाबिले का विविध-कला-पारंगत बंबई के तत्कालीन फ़िल्म धन्धे में एक नहीं था।

यह बात है तब की जब बंबई में इम्पीरियल, शारदा, कृष्ण, रण-जीत आदि फ़िल्म कंपनियाँ अस्तित्व में आ चुकी थीं और मूक-चित्रों का निर्माण एक-पर-एक शुरू हो चुका था। यह तब की बात है जब के प्रसिद्ध हीरो मास्टर विट्ठल, नन्दराम पहलवान, बिलमोरिया और जाल मरचेन्ट-जैसे होते थे तथा हीरोइनें होती थीं सुलोचना, जिल्लू, पुतली, गौहर (रणजीत), ज़ुबेदा-जैसी। तब फ़िल्म कंपनी का मालिक अधिक महत्व-मंडित होता था; उसके बाद डिस्ट्रीब्यूटर। डाइरेक्टर तीसरे दर्जे का अधिकारी माना जाता था। उसकी ड्यूटी कंपनी के

मालिक और डिस्ट्रीब्यूटर को भी, खुश रखना होती थी। खुश रखना इस अर्थ में कि उसे फ़िल्म की वेश्याओं या अर्ध-वेश्याओं को कंपनी के मालिकों की अंक-शायिनी बनाने की मध्यस्थता भी करनी पड़ती थी। उन डाइरेक्टरों की नौकरी ज़ियादा पक्की थी जो किसी-न-किसी तरह कंपनी के मालिक को कोई सुन्दरी उपहार में दे सकते थे। बस, मालिक को वश में करते ही डाइरेक्टर सर्व-सर्वा बन जाता था। उलटा-पलटा समझाकर वह चाहे जिस औरत को हीरोइन, चाहे जिस एक्टर को हीरो बनवा सकता था।

फलतः हीरो-हीरोइन या फ़िल्म एक्टर बनने या किसी स्टोरी में बढ़िया करेक्टर पाने के शौक़ीन पहले यह पता लगाने की चेष्टा करते थे कि डाइरेक्टर की दुर्बलताएँ क्या हैं? दारू? दारा? दाम? (नज़र, उपहार)। इसका नतीजा यह होता था कि अच्छे डाइरेक्टरों के यहाँ शराबें और सुन्दरियाँ बिना तलब—बरबस पहुँच जाया करती थीं।

जगरूप बनारस से यही भावना-भर कर बंबई पहुँचा था कि स्वर्ग में शराबें, सुन्दरियाँ, साथ ही, सम्यक सुविधा सतत रहती है, अतः स्वर्ग स्वर्ग कहलाता है। फ़िल्म लाइन में सफलता की पहली ही सीढ़ी पर पग रखते ही उसे महसूस हुआ कि पृथ्वी पर यदि कहीं स्वर्ग हो कता है तो वह बंबई और फ़िल्म लाइन में है। कहा जा चुका है सगरूप जवान था, रोबीला था, गुणों का आकर था, चंट—और बनारसी (करैला और नीमचढ़ा) था।

फ़िल्म कंपनी में डाइरेक्टरी मिलते ही जैसे स्वयमेव आवश्यक सुविधाएँ उसे प्राप्त हो गयीं। एक गुजराती एक्टर ने अपना वाल-केश्वर रोडवाला तीन कमरोंवाला फ़्लैट उसके लिये तद्न खाली कर दिया—खुद बाँदरा में जाकर रहने लगा—इसलिये कि डाइरेक्टर खुश रहा तो सौभाग्य खुश रहेगा ही। इसके बाद महाराष्ट्रीय

इंजिनीयर की मदद से स्थान प्राप्त करने की कोई भी आवश्यकता नहीं रही। जगरूप ने मासिक भाड़े पर बहुत-सा फ़र्नीचर नये और बंबैया ढग का फ़्लैट में सजाया। लेकिन अब जो कलापूर्ण अक़्ल से उसने सोचा तो बंबई के—ख़ासकर फ़िल्म के—वातावरण में बनारसी वेश्या रानी गोल छेद में चौकोर खूँटी सी मालूम पड़ी; बिलकुल अनफ़िट, देहातिन। फ़िल्म स्टूडियो में कैसी-कैसी औरतें, कैसी चुस्ती, चंचलता और शोख़ी से महँकती-चहकती वासना की निमन्त्रण-ज्वाला-सी दहकती हुई होती हैं। और एक है यह रानी विलास की उवासी—जैसे गजरा बासी। न शोख़ी, न नमक, न लोच। पर उस समय रानी से जगरूप लड़ा नहीं; क्योंकि पत्नी-रूप में वह, पाखण्डी समाज-रूपी बाजार में, सुरक्षा की ढाल थी। छड़ा या वह जिसके भाग्य में बीवी नहीं, बंबई में ठहरने की जगह भी बु-मुश्किल पाता है, जब कि औरत वाला, भले उसकी लुगाई वेश्या ही क्यों न हो, अखण्ड सौभाग्यवतियों और सीता-सतियों के समाज में सुन्दर स्थान पा जाता है और ससम्मान !

फिर रानी उसके लिये दोनों समय भोजन जो बना दिया करती थी। फिर सारे दिन—अक्सर आधीरात तक—तो वह स्टूडियो में रहा करता था जहाँ उसके स्वर्ग का सारा सरमाया सरासर था। रानी से लड़ने या उसे बनारस भेजने में जगरूप को किसी रूप में मुनाफ़ा नहीं था लेकिन रानी उसके चित से उतर चुकी थी। इसे महसूस करने में रानी को बहुत विलंब नहीं लगा लेकिन वह बनारस का बाजार छोड़कर चली आयी थी जहाँ एकाएक लौटने में इस बात का भय था कि फिर ग्राहकों-अनुग्राहकों की भीड़ हो—न हो। जगरूप की मतलबी-नीयत ताड़ते ही रानी ने सोचा—वफ़ा का तबला एक नहीं दोनों हाथ से बजता है—अकेले न दाहिना तबला-वादन है, न बायाँ।

जब वह वफ़ादार नहीं तो वही क्यों रहे ? सो, रानी ने इंजिनीयर का पल्का पकड़ा ।

: १६ :

और महादेवी दूसरी धातु की बनी हुई स्त्री थी । उसकी धमनियों में विपरीत-स्थिति में साहस से डटने, साथ ही, अपने-रंग से सटनेवाला रक्त प्रवाहित था । जीवन के पिछले पहर में नियति द्वारा बारंबार पछाड़ी जाने पर भी पूर्ण पराजय में जैसे उस दृढ़, गंभीर औरत को नारकीय-मरण नजर आता था । तभी तो रामशंकर द्वारा सर्वाधिकार छिने जाने पर घर के इष्टदेवों के दागीने (गहने) तक उड़ा लेने से वह हिचकी नहीं । तब उसने सोचा था कि अपने पास की संचित-निधि और उन गहनों से अपने लाडले नाती जगरूप के हरेक आराम की विधि बैठा-कर फिर वह मरेगी । लेकिन जब जगरूप ही उसके स्नेह को ठेंगा दिखा कर, भावनाओं के गाल पर यथार्थ का प्राण-पीड़क तमाचा लगाकर बनारस की एक सड़ी वेश्या के साथ बम्बई चला गया तब तो महादेवी की एक बार तो कमर ही टूट-जैसी गयी ।

भदैनी-भवन के आधे-भाग पर महादेवी का कब्जा अभी था, इस लिये कि रामशंकर ने समाज के लेहाज से उसे बे-दखल करना श्रेष्ठ नहीं समझा जिसे अभी कल तक गृह-स्वामिनी और भाभी-माँ कहकर वह कृतार्थ होता था । मगर, भारी घर पर अधिकार---भयानक अवसरों पर पर दुर्भाग्य में अधिक भायँ-भायँ भर जाता है । दस बड़े-बड़े कमरे, चार छतें, जिनमें दो-सौ-सौ-'फुटी'; सर-समान, राय-रसोई, सारी दुनिया का गार्हस्थिक पलंजर; लेकिन प्राणी इन-गिनकर तीन : महादेवी, ब्रजरानी.

प्रेमा। बिना सर का धड़ जैसे, वैसे ही (अबलाओं की आँखों में) बिना सरपरस्त का घर।

जब तक 'वह' था—वह भी घर पर कहाँ रहा करता था। फिर भी, उसकी भावना से सारा घर दिन-रात, भरा और हरा-भरा रहता था। सफ़ाई उसके लिये होती थी; व्रत-पूजाएँ उसके लिये होती थीं। घर में जो भोजन बनता था ठाकुरजी के लिये नहीं, जगरूप के लिये। सो, जगरूप के बम्बई चले जाने के बाद आधे भदैनी-भवन में स्यापे-जैसा सन्नाटा भर गया। सरे शाम ही वह घर उन अनाथा स्त्रियों को खाने दौड़ता था और सारी रात—जबतक दुश्चिन्ताओं से थककर सो जाने पर वे दुःस्वप्न न देखने लगतीं—वह घर मानो उनके कलेजे कुरेदता रहता। कई बार महादेवी ने सोचा कि उस घर का त्याग कर वह कहीं भाग जाय; दर-दर मुक्त विचरे और राम-नाम लेती भीख माँगे। इस भयानक-वातावरण से, घुटन-भरी हवा से, रक्त सुखानेवाले अपने ही आवास से प्राण बचाकर। लेकिन कुलीनता, संस्कार, समाज की उठी हुई अँगुलियों का ख़याल उसकी जरा-जर्जर-काया में कँपकँपी उत्पन्न कर देते।

रत्नशंकर के आँखें मूँदते ही रामशंकर भाई से भुजंग बन गया हो सो बात नहीं। व्यवहार सब पूर्ववत् ही चलता रहा। महादेवी से सामना होने पर वह प्रणाम करता, आदर दिखाता, विनम्रता दरसाता; पर, इन सबके पीछे होता पाखण्ड ही। सच्चाई की बू-बास तक नदारद। क्योंकि मतलब के मौक़े पर वह निष्ठुर, पैसा-पकड़, सन्दिग्ध-हृदय यानी काला-कठोर ही रहता। फलतः महादेवी आदि का हृदय-कमल खिलता नहीं था सिवाय कुँभलाने, सिवाय कुँभलाने के।

इसी दिखावे में रामशंकर की पत्नी ने एक दिन अपनी गोद का बालक महादेवी की गोद में यह कहते हुए दे दिया कि "बहनजी, यह मुन्नू भी तो आपही का है। आज से मैंने इसे आपको दिया।" तब महादेवी एक आह खींचती हुई मुन्नू को देवरानी को लौटाती हुई बोली:

"नहीं बहन, अपना लाल तुम आप सँभालो। बच्चे मुझ अभागिन को सहते ही नहीं।" और वह फूट-फूटकर रोने लगी।

देवरानी के जाने के बाद अभिमानिनी महादेवी ने सोचा, "कल की बिटिया तिल्ली में से तिल काढ़े। महादेवी को दिखाने-सुनाने आयी थी कि उसके इतने बेटे हैं कि एक-दो का दान तक कर सकती है। सोचती है कि इसके बेटे को अगर मैं गोद ले लूँ तो मेरे पास जो लेई-पूँजी है अन्त में उसी की होकर रहेगी। मुद्दइन, मुझे चराने चली है। जानती नहीं कि जिस बेटे को पाल-पोसकर मैंने हाथी-जैसा बनाया है, छोड़ूँगी नहीं उसे मैं। मैला में गिर पड़ने पर भी कोई अपना लाल छोड़ता है? मेरा—जो कुछ भी है वही पायेगा। मेरा पिंड-पानी मेरा 'भैया' करेगा न कि इस साँपिनी सौत के सँपोले।

पर, अपने जगरूप को वह पुनः पाये तो कैसे? सारे संसार से परे खींचकर घर लाये तो कैसे? बम्बई वह ख़ुद जाये क्या? मगर वहाँ जाकर क्या कहकर वह उसे हठीले, ज़िद्दी, 'कुलबोरन' को 'पतुरिया' से 'धर्म-पत्नी' का महत्व विशेष समझा सकेगी? हाय रे अभाग्य! वह महत्व नहीं समझता; धर्म नहीं समझता; पत्नी के लिये उसके हृदय में आदर नहीं है। उसे तो चाहिये नटिनी, ऐसी औरत जो नाचे-गाये-तोड़े तान! अपनी मति भ्रमित, बुद्धि शिथिल पाते ही महादेवी के मन में आया कि इस घोर संकट-काल में उसे अपने कुल-पुरोहित विनायक मिश्र की शुभ-सम्मति लेनी चाहिये। मिश्रजी का स्वर्गीय रत्नशंकर के दरबार में बड़ा सम्मान था। विनायक मिश्र श्रेष्ठ वेदज्ञ, कर्मकाण्डी ब्राह्मण तो थे ही ज्योतिषी भी आबदार थे। भदैनी-भवन में ड्यौढ़ी बाहर और भीतर—दशरथ राजभवन में गुरु वसिष्ठ की तरह—एक भाव से उनका आदर-सत्कार होता था। वह भदैनी-भवन से डेढ़ मील परे, शहर के मध्य 'राजा दरवाज़ा' मुहल्ले में रहते थे। और महादेवी अभी सोच ही रही थी कि मिश्रजी को किससे बुलवाए कि दरवाज़े पर

किसी ने थपकियाँ दीं। विनायकजी स्वयं आ पधारे थे।

"मैं इसलिये आज आया महारानीजी, भगवान मंगल करे!" पुरोहित 'महादेवी' को बराबर महारानी कहा करता था "कि आज हम दोनों ही एक ही विपदा के मारे हुए हैं।"

"भगवान रक्षा करें! पंडित महाराज!" महादेवी ने कहा, "मैं तो खुद ही आपको बुलाने जा रही थी—आप स्वयं पधार गये अन्तर्यामी, दीन-दयालु की तरह। मेरी बिपदा तो, खैर, जग-जाहिर है। 'वह' क्या चले गये मेरी खुशी के दिन ही खत्म हो गये (पति की याद में महादेवी सजल हो उठी) पर आप पर कैसी विपत्ति...?"

"ठीक वैसीही महारानीजी, भगवान मंगल करे! जैसी आपकी वर्त्तमान विपत्ति है। कल राजमोहन पक्के महल के एक खत्री दोस्त की बहन के साथ न जाने कहाँ चम्पत हो गया।"

"हे राम! उसकी सगाई हुए तो अभी एक वर्ष भी पूरा नहीं हुआ। पंडित महाराज! बहू यहीं है या नैहर?"

"यहीं है महारानीजी और कल ही से रोते-रोते सारे घर में उसने करुणा-सा भर रखा है। भगवान मंगल करे—मकान में क़दम रखा नहीं जाता। कुल की मर्यादा से खेल! अपने ही नहीं, दूसरे के भी! यह तो मैं था कि लड़की के बिगड़े-दिल बाप को मैंने तर्क से, कुतर्क से दबा दिया; निरुत्तर कर दिया। मैंने कहा: तुम्हारी लड़की ही बद-चलन थी। मैं दावा करूँगा कि वही मेरे लड़के को भगा ले गयी: भेड़ा बना कर, गधा बना कर, उल्लू बना कर। फिर भी, अपने मन में मैं बराबर सोचता रहा कि सिक्का अपना ही खोटा था।"

"ब्राह्मण-क्षत्रिय ऊँची नाकवालों के लड़कों को यह हो क्या गया है पंडित महाराज! कि ये ज्यों-ज्यों बड़े और बुद्धिमान होते हैं त्यों-त्यों अपनी चाल-चलन, सदाचार से हीन होते जाते हैं? भैया के बम्बई चले जाने से हमारा तो घरौंदा ही धूल में मिल गया। ऐसा क्यों पंडित

महाराज ! पंडितों के पूत पंडित क्यों नहीं होते ?"

"इन छोकरों को स्कूल-कालेजों में विदेशी शिक्षा-दीक्षा के लिये भेज कर और स्वदेशी वैदिक, सनातन, शास्त्रीय-शिक्षा से रहित रख कर, भगवान मंगल करे—सच पूछिये तो पहले ही हमने अपने पाँव पर कुल्हाडी मार ली है। यह निर्लज्ज व्यभिचार-रोग किस सीमा तक विदेशी-शिक्षित युवकों में वर्त्तमान है ! हमारी पंडिताई, प्राचीन-पद्धति में तो इसकी बू-बास तक नहीं थी; जिसमें अक्षर के पहले धर्माचार और सदाचार बच्चों के विकास-क्षेत्र में बोए जाते थे। साथ ही, इस बीज के बोनेवाले गुरु स्वयं धर्माचारी, सदाचारी होते थे।"

"मैं यह पूछती हूँ पंडित महाराज !" महादेवी ने जिज्ञासा की "कि लड़के तो खैर लड़के हैं, बह-बहाकर फिर ठिकाने आ जायेंगे। लेकिन इन बेचारी बहुओं का क्या होगा जो अपना दुखड़ा न तो चीख़ सकती हैं न पुकार। अक्सर मेरे मन में इन्साफ़ पुकार उठता है कि जब लौंडे हद दर्जे तक आज़ाद हो चुके हैं तब लौंडियों को ही बन्धन और चूल्हे और भाड़ में झोंकने से कुलों की कुलीनता कबतक बचेगी ? मैं झूठ न कहूँगी, ऐसे मौक़ों पर मुसलमानों में प्रचलित तलाक-पद्धति मुझे बिलकुल उचित मालूम पड़ती है।"

"आप कह क्या रही हैं, महारानीजी भगवान मंगल करे !" वृद्ध विनायक मिश्र ने मिश्रित-विरोध स्वर में सुनाया "आप जैसी सती-साध्वी के मुँह से अलाक़-तलाक़ का प्रतिपादन सुनकर मुझे महान आश्चर्य होता है।"

"आप एक तरफ़ तो बच्चों को अपने धरम-करम की उचित शिक्षा नहीं देंगे और दूसरी ओर तलाक़ के नाम से भी काँप उठेंगे! महाराज ! इसमें मोह हो, भावुकता हो, लेकिन व्यावहारिकता भी है ? कह सकते हैं ?" जरा, दृढ़ किन्तु सरस-ढंग से, महादेवी ने सुनाया।"

"मगर, महारानीजी !" ब्राह्मण ने सहृदय आग्रह से कहा "आर्य-

विवाह में तलाक़ की गुंजायश ज़रा भी नहीं है। भगवान मंगल करे! आप भूली तो न होंगी। आर्य-विवाह-विधि में वर वधू को आकाश के तारे ध्रुव, अरुन्धती को दिखलाता है और वधू कहती है: आपने भी कहा होगा—

ध्रुवमसि ध्रुवाऽहं पतिकुले भूयासम्,
अरुन्धत्यसि रुद्धाऽहमस्मि।

"क्या मतलब?" महादेवी ने पूछा "विवाह में संस्कृत-मन्त्रों के मानी कहाँ बतलाये जाते हैं। फल यह होता है कि लोग बिना समझे-बूझे बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञाओं में बँध जाते हैं। इसी से कोई शांति नहीं पाता।"

"इसका अर्थ है: हे ध्रुव! जैसे आप आकाश में अचल हैं उसी तरह मैं पति-कुल में निश्चल होऊँ। हे अरुन्धती! आप ही की तरह मैं भी अपने प्राणपति के सदा सन्निकट होऊँ। आर्य-विवाह महारानीजी, भगवान मंगल करे! दो आत्माओं का सम्बन्ध है। जीवन तो जीवन मरण में भी विच्छिन्न न होनेवाला। आर्य-विवेक के अनुसार वर-वधू का सम्बन्ध इन्द्र और इन्द्राणी, विभावसु और स्वाहा, सोम और रोहिणी, नल और दमयन्ती, वैश्रवण और भद्रा, वसिष्ठ और अरुन्धती यानी नारायण और लक्ष्मी के सम्बन्ध की तरह अटल और चिरस्थायी होता है।"

"यह वर्णन सत्य हो या कल्पना पंडित महाराज! सुनते ही अगली-पिछली अनेक घटनाएँ स्मरण कर मेरे तो रोमांच आया....।" महादेवी ने आँसू पोंछते हुए सुनाया जिससे उत्साहित होकर ब्राह्मण आर्य-विवाह-विधि की धारा-प्रवाह प्रशंसा करने लगा:

"महारानीजी, परम प्रभु ने प्रारम्भ में, भगवान मंगल करे! अपने को दो भागों में विभाजित किया:

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोभवत्,
अर्धेन नारी तपस्यां स विराजय सृजत् प्रभुः।

"मैं समझी नहीं पंडित महाराज !"

"मैं समझाता हूँ न—भगवान मंगल करे ! प्रभु की देह द्वि-खंडित हुई तो आधी से नर बना और आधी से बनी नारी। भगवान मंगल करें ! इसका क्या अर्थ ? इसका अर्थ यह है कि न तो अकेले नर सम्पूर्ण होता है और न ही नारी। नर-नारी आपस में एक-दूसरे के पूरक हैं। परन्तु **"स्त्री-धारा पुंधारामयी कैवल्याधिकारिणी"** यानी भगवान मंगल करे ! पुरुष-स्त्री की भावात्मिका-धाराओं में स्त्री-धारा भगवान मंगल करे ! केवल पुरुष धरामयी होकर ही कल्याण-कैवल्य-अधिकारिणी हो सकती है। सो, महारानीजी ! सिद्ध या स्पष्ट यह है कि आर्य-विवाह भोग, विलास और इन्द्रिय-तृप्ति के लिये हर्गिज़ नहीं है। वह तो स्त्री-धारा को पुरुषधारा-मयी बनाकर द्वन्द्व-जीवन-प्रवाह को निर्द्वन्द्व-कैवल्य-रूपी महासागर की ओर महा-मिलन के लिये मोड़ना, प्रवाहित करना है।"

"यह सब तपस्वियों का विधान—पंडित महाराज ! सतजुगी-बातें हैं। और आज है घोर कलिकाल। छोटे-मुँह बड़ी बात क्षमा करें ! क्या सतजुगी-मन्त्र आज के जमाने के अयोग्य नहीं है ?" रूखी मुस्कराहट से महादेवी ने पूछा।

"कदापि नहीं महारानीजी, भगवान मंगल करे ! सृष्टि की कुछ वस्तुएँ शाश्वत होती हैं, सनातन। जैसे यह सूर्य, चन्द्र, पवन, अग्नि और जल ही को लें। युग आते हैं, युग जाते हैं, पर सूर्य-चन्द्र, पवन-पावक वही रहते हैं। इसी प्रकार ऋषियों के अनुसार आर्य-विवाह में नर-नारी का एकीकरण चिरन्तन या शाश्वत होता है। आर्य-विवाह में यह जो 'सप्तपदी' होती है—वर और वधू साथ-साथ सात पग चलते हैं—कितनी दिव्य-अर्थ-मयी है ! हम न समझें, न मानें तो क्या इलाज।"

"कौन समझता है पंडित महाराज ! आपके मन्त्रों के सूक्ष्म-भेद, विवाह की पूजा, मंगल-विधियों को लोग तमाशा समझते हैं। सो,

विश्वास जैसा फल। सारे जन्म विवाह तमाशा ही बनकर रह जाता है। ख़ासकर मर्द के लिये।" महादेवी ने सखेद स्वीकार किया।

"मतिमन्दों का—भगवान मंगल करे! —कोई इलाज नहीं, महारानीजी! अन्यथा सप्तपदी न तो खेल है न तमाशा। एक-एक पग के कुछ मानी हैं। पहले पग से इच्छापूर्ति, दूसरे से शक्ति-संचय, तीसरे से गृहस्थाश्रम-पालन, चौथे से दम्पति की निर्विकार-मैत्री, पाँचवें से पशु-धन का संग्रह तथा छठे से विविध-सम्पत्ति का संग्रह करने का दृढ़ संकल्प करता हुआ वर वधू को सखा—परम अन्तरंगी—संबोधित कर कहता है सखे! उक्त सातों संकल्पों की सिद्धि में तुम मेरे संतत सहायक रहो!

सखे सप्ततदा भव सख्यं ते गमेयम्
सख्यं ते मा योषाः सख्यं ते मायोष्ठाः।

ब्राह्मण, विधि-विह्वल, वेद-मन्त्र स्वर से सुना गया। और महादेवी कई क्षणों तक तत्काल से दूर भूतकाल में उन घड़ियों में विरमी-रमी जिनमें रत्नशंकर से उसका पाणिग्रहण हुआ था। तब वह आठ साल की थी, रत्नशंकर था बारह का। एकाएक कुछ सोचकर महादेवी चमकी—

"मैं भी कैसी भुलक्कड़ आजकल हो गयी हूँ!" उसने सखेद सुनाया "जलपान, पान तक के लिये आग्रह नहीं किया—अरी बिरजू! ओ ब्रजेश्वरी!"

"भगवान मंगल करे, महारानीजी—नहीं। मंगलवार को मैं अनाहार करता हूँ।"

"फिर भी, कोई सुनेगा, तो मेरी नामुन्सी होगी। आप पधारें और पानी को भी न पूछा जाय। उसके बम्बई चले जाने के बाद से ऐसा लगता है कि मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है।"

"शिव, शिव! महारानीजी," प्रसन्न पुरोहित ने महादेवी की स्तुति

की "आप आज नहीं कब से मैं देख रहा हूँ परम विदुषी,—परम विदुषी हैं। आपके तो दर्शनों में प्रसाद है, पुण्य है।"

"प्रसाद ! पुण्य !!" व्यंग्य में महादेवी ने दुहराया।

"सन्देह है ? भगवान मंगल करे !"

"सरासर पंडित महाराज ! अर्से से मैं देख रही हूँ, जैसे कलिजुग जोर-शोर से आ गया है। वही कलिजुग जिसमें पुण्य और प्रसाद केवल नाम के होते हैं। यह जुग पाप और परिताप का है। और महाराज ! जमाना बदल गया, हम नहीं बदले। सो, धक्के खाते—धोखा खाते हैं।"

"भगवान मंगल करे ! सत्य वचन, सर्वथा सत्य।"

"सो महाराज...!" महादेवी की ज़ुबान पर जैसे बात आती-आती रह गयी।

"हाँ...।"

"इधर कई दिनों से मन-ही-मन मैं बड़े शशपंज में पड़ी हुई हूँ।"

"भगवान मंगल करे !"

"मेरी बुद्धि यह कहती है कि पाप के वातावरण में, पाप के राज में, पाप से परे रहना पाप है और परम।"

"क्या ? भगवान मंगल करे !" पुरोहित का मुख और नेत्र खुले-के-खुले रह गये। परम कुलीना महारानी कह क्या रही हैं !

"आजकल, पल-पल, मेरा मन पाप से निकट-परिचय बढ़ाने को ललक-सा रहा है पंडित महाराज ! एक बात में मैं आपकी सलाह चाहती हूँ।" जैसे मन कड़ा करके महादेवी ने पुरोहित विनायक मिश्र से कहा।

"भगवान मंगल करे ! मैं सेवा में हाज़िर हूँ महारानी ! हुक्म करें ?"

"मेरा प्रश्न धड़ाकेदार हो सकता है, कृपया गंभीरता से विचारने के पूर्व ही पृथ्वी से उछल न पड़ियेगा। जगरूप की बहू को...।"

"जी.... !"

"जगरूप की बहू को मैं नाचना सिखलाऊँ ? क्योंकि वह इसीलिये ख़ासकर बहू से विरक्त रहता है कि इसको नाचना नहीं आता। नाच-नारी ही को बहका-भगाकर वह बम्बई गया है।" महादेवी के स्वर की ध्वनि के अनुसार ऐसा लगता था जैसे उसे स्वयं अपना प्रस्ताव आर्य नहीं मालूम पड़ रहा था।

"महारानीजी, भगवान मंगल करे !" चकित पुरोहित ने सुनाया "आपकी बात सुनकर मुझे गोस्वामीजी की चौपाई याद आ गयी : मोह सकल व्याधिन कर मूला। भगवान मंगल करे ! जगरूप के प्रति आपका मोह व्याधि का रूप न ले।"

"मुझे घुमा-फिराकर जवाब नहीं चाहिये।" महादेवी ने ज़रा रूखे स्वर से कहा, "साफ़ बतलाइये। बहू को नाचना सिखाने में क्या पाप है ? क्या बुराई है ?"

"पाप है, बुराई है यह महारानीजी !" आवेश के कारण इस बार पुरोहित तकिया क़लाम कहना भूल गया" कि बहू-बेटियों को नचाना अपने वर्तमान समाज में प्रचलित नहीं।"

"पर जब लड़के नृत्य को यहाँ तक पसन्द करेंगे कि जिस लड़की को नाचना नहीं आयेगा उसका सम्बन्ध असम्भव हो जायेगा तब ? मैं समझती हूँ, आवेश नहीं, धैर्य से इस प्रश्न पर विचारना होगा। मैं तो यह देख रही हूँ कि समाज हमेशा नाच का शौक़ीन रहा है। अलबत्ता लोग अपनी लड़कियाँ नहीं नचाना चाहते—यह सोचकर कि जो लड़कियाँ नाच-नारी के रूप में नाचती हैं समाज की लड़कियाँ वे नहीं हैं। और तब वेश्याएँ समाज से अपना परम सम्बन्ध दिखाने के लिये बड़े-बड़े पगड़धारियों के लाडलों को बरग़लाकर अँगुलियों पर नचाती हुई 'उड़र' जाती हैं। मैं पूछती हूँ नाचने में बुराई क्या है ? आप इसका उत्तर दें।"

"उसमें चांचल्य है, आवेग है, अतः औरतों के लिये विशेषतः वर्जित-विषय माना गया है। मैं सभ्य बहू-बेटियों का नाचना नापसन्द—निहायत नापसन्द करता हूँ।"

"नाचती राधिका जी थीं...। आप कहते क्या हैं!"

"ठीक है राधिका नाचती थीं, पर भगवान मंगल करे! राधिकाजी ने अपने पति को त्यागकर वृन्दावनविहारी का वरण भी कर लिया था। कृष्णजी से नहीं, राधिका के नाचने का औचित्य अनौचित्य राधिका के पति से पूछना होगा।"

"आप मज़े में जानते हैं कीर्तनकारी धर्म-गुरुओं के साथ, भावविभोर होकर स्त्रियों के नाचने में बहुत से पति कोई बुराई नहीं देखते।"

"देखते हैं, भगवान मंगल करे। शायद ही कोई हो जो अपनी पत्नी को दीगर के साथ नाचते देखकर प्रसन्न होता हो। अनेक भले लोग 'धर्म' के भय से मुँह नहीं खोलते। फिर भी, ऐसे भाव-नृत्यों की समाज में कु-चर्चा ही होती है।"

"जब से होश सँभाला मैं तो तभी से देखती आ रही हूँ कि आपका समाज जिसकी कु-चर्चा करता है, उसे अपना भी लेता है। आप देखेंगे, कोई ताज्जुब नहीं है, एक दिन समाज से नाच-नारियाँ उठ जायेंगी और घर-घर की लड़कियाँ नाचना सीख लेंगी।"

"भगवान भला करे! महादेवीजी! ऐसे समाज के विकसित होने के पहले ही विनायक मिश्र मणिकर्णिका घाट चला जाना बेहतरह समझता है।"

"भगवान न करे! आप तो बुरा मान गये। खैर आप नाच को बुरा ही मानें; पर, यदि मैं अपनी बहू को नृत्य सिखलाऊँ, तो आप नाखुश होकर पुरोहिती से पृथक...?"

"...सरासर हो जाऊँगा।" ब्राह्मण ने महादेवी को वाक्य पूरा करने का मौक़ा देने के पूर्व ही सम्मति दे मारी "साथ ही, मैं आप लोगों

के घर का अन्न-जल तक ग्रहण नहीं करूँगा।"

"बड़े नाराज़ !" महादेवी ने—बिना खुनुस ज़ाहिर किये—कहा "देवता ! नाचते हैं शंकर, नाचती हैं महाकाली। आश्चर्य ! घोर आश्चर्य कि आप शंकर-काली को तो मान्यता देते हैं, पर नृत्य-कला से नाक सिकोड़ते हैं।"

"शंकर—भगवान मंगल करे ! नाचते ही नहीं, अवसर आने पर हलाहल का अनासक्त आचमन भी करते हैं। काली नाचती ही नहीं, भर्तार शंकर को चरण से चाँप, मारे क्रोध के अपना ही गला काट रक्त-पान भी करती हैं। महारानीजी ! अपार-शक्ति, महानों की तो क्षुद्र-प्राणी मुग्ध-लीला मात्र देख सकते हैं। अनुकरण में पार-पाना संभव नहीं है। मज़े में जानता हूँ, आप यह तथ्य जानती हैं। मुझे केवल 'टो'—टटोल रही थीं। क्यों ? अब मैं चलूँगा। आपने ऐसी चर्चा छेड़ी कि कितना समय कितनी शीघ्र चला गया।" विनायक मिश्र ने टेट से निकालकर जेब-घड़ी में देखा—"ओह ! दो बज गये ! अभी संकटमोचन जाना है।" वह जाने को आतुर उठकर खड़ा हो गया।

"टो नहीं रही थी, महाराज !" महादेवी ने पंडित को द्वार तक पहुँचाकर दृढ़, निश्चयात्मक स्वर में सुनाया, "मैं अपना लाल खोने को तैयार नहीं। आप मोह कहें, स्त्री-बुद्धि कहें, कर्म कहें, कुकर्म कहें—अपने जगरूप को पुनः पाने के लिये मैं कुछ भी करूँगी। आप क्षमा करें, न करें ; मेरे लिये उस लौंडे के अलावा कोई गति नहीं।

: २० :

तीस साल का तगड़ा बनारसी गुण्डा, देखते ही, भरपूर ज़ोरावर—इतना—कि सामने कुर्सी पर वर्दी में बैठे, सवाल-पर-सवाल करते चेतगंज थाने के थानेदार अल्ताफ़अली को बल से परास्त कर जान से मार डाले; पर, उस वक़्त वह भयानक भावावेश से काँप रहा था। एक लम्बा-सा छुरा गुण्डे के दाहने हाथ में था, लहू में नहाया हुआ !

"हुज़ूर मैंने उसे जान से मार डाला...।"

"क्या मतलब ?" चमककर अल्ताफ़अली ने पूछा ।

"मैं उसका आशिक़ हूँ ।"

"क्या मतलब ?" थानेदार हैरानी ही की दशा में था ।

"हुज़ूर, उसके बिना मेरा धर्म-पुण्य सब अकारथ । जैसे वही मेरा परान, वही मेरी जान । पिछले सवा साल से पागल उस पर मैं ।"

"तो वह तेरी औरत नहीं थी ? किसी और की बीवी थी जिसे तूने मार डाला, जैसा कि खुद कह रहा है ?"

"हुज़ूर, मैं औरत का आशिक़ नहीं। औरत नहीं वह लड़का था...।"

"लाहौलवला ! हरामज़ादे... !"

"हुज़ूर ! आवेश से प्रहार के लिए उत्सुक बँधी हुई मुट्ठी के रक्तात्क्त छुरे को पीछे की तरफ़ छिपाते हुए गुण्डे ने सुनाया, "गाली सुनने की आदत मंगरू गुण्डा की बिलकुल नहीं है। मैं हुज़ूर के आगे गुनाह इक़बाल करने आया हूँ, सज़ा : सबसे बड़ी सज़ा पाने के लिए। समझ लीजिए—दो-चार खून करने पर भी खूनी को जान तो एक ही बार देना पड़ती है । मैं अभी खून करके आ रहा हूँ। मेरे माथे पर खून अभी चढ़ा ही हुआ है ।"

अलताफ़अली थानेदार वर्दी के अन्दर एक बार काँप उठा ! उसे पसीना छूट गया । उसने सोचा खूनी को तुरन्त निरस्त्र न कर अबतक ग़लती की उसने ।

"हवलदार !"

तुरन्त ही हवलदार सम्मुख आया।

"इसका छुरा ले लो।"

हवलदार ने गुण्डे को तुरन्त ही निरस्त्र कर दिया।

"छुरा नहीं घातक होता हुजूर !" दीवानावार हँसता हुआ गुण्डा बोला, "घातक होता है आदमी का, मर्द का, इरादा। मगर मैं इस वक़्त इस इरादे से आया हूँ कि आप मुझे गिरफ़्तार करें। मैंने ख़ून किया है।"

"किसका ?"

"राजू...कबीरचौरा के लीलाधर कत्थक के ख़ूबसूरत लड़के राजू का...।"

"राजू कत्थक ? वही जो बहुत अच्छा नाचता था ?"

"उसके नाचने पर नहीं, मैं तो उसकी भोली सूरत पर आशिक़ था...।"

"फिर उसे मार क्यों डाला ?"

"हुज़ूर झूठ न कहूँगा, मेरी सारी जमाजथा मुझ से ले लेने के बाद, मुझे ही कंगाल कहता हुआ, वह मालदार खत्री लच्छूराम गोटेवाले के संग रमने और मुझे पिड़काने, तड़पाने लगा। रक़म के लिए मैं उसे न मारता। मारा मैंने सूअर की बेवफ़ाई पर। मारा मैंने कि बिना उसे जान से मारे जैसे मेरा दम घुटने लगा था।"

"ख़ून कबीरचौरा में हुआ है ?"

"ख़ून तो हुज़ूर बुलानाले के सिनेमाघर में हुआ है। गोटेवाले की बगल में, बक्स में, बैठा राजू सिनेमा देख रहा था। उसी वक़्त अन्दर दाख़िल हो छुरे के एक ही वार से हरामी को सुला दिया और भाग खड़ा हुआ। मैं चेतगंज का रहनेवाला हूँ। भागकर पहले मैं अपने घर आया और किसी दूसरे शहर में भाग जाने की जुगत जोड़ने लगा। लेकिन वह

लड़का, झूठ नहीं कहूँगा, हुज़ूर, मेरी जान था। मुझे लगा उसके बिना ज़िन्दगी का स्वाद ही समाप्त हो गया। जब वही नहीं रहा, तो लानत है जीने पर। अब जीना मैं चाहता नहीं।"

"जीना नहीं जो चाहता उसे अमरत भी नहीं जिला सकता।" हवलदार की तरफ़ देखता हुआ थानेदार बोला, "इसे अभी तो हवालात में बन्द करो, बयान इसका अभी थोड़ी देर बाद दर्ज किया जाएगा। मुआयिने पर अभी सुप्रेन्टेन्डेन्ट पुलीस आनेवाले हैं।" अब बनारसी गुण्डे की तरफ़ देखकर थानेदार ने सुनाया, "जान न हुई दिल्लगी हुई, एक लौंडे पर यार लोग खड़ी जवानी में जान देते हैं! कैसा बद ज़माना है कि भले आदमी ईमान पर जान नहीं देंगे, नहीं देंगे धरम पर,—ये तो जान देंगे लौंडेबाज़ी में...!"

"लौंडेबाज़ के मुँह पर तो मैं थूक देता हूँ। इस लत में बदनाम गोटेवाला था। तभी तो मैंने उसका ख़ून किया। अपना सब कुछ उस पर न्योछावर करके भी उसको बुरे भावों से मैंने कभी हाथ से छुआ तक नहीं। उसके रूप पर सरासर मोहित हो मैं तो उसको प्राणेश्वर... हुज़ूर हँसते हैं!!"

"मर्द का प्राणेश्वर मर्द—जब इन्सान की अक़्ल मारी जाती है तब ऐसा ही होता है।"

"हुज़ूर भगवान मर्द ही हैं, जिन्हें कौन प्राणेश्वर नहीं कहता? पैग़म्बर, पीर, गुरु को कौन भक्त, कौन मुरीद, कौन नालायक़ चेला प्राणेश्वर नहीं कहेगा?"

आदि में राजू की चर्चा आ चुकी है अतः उसका अन्त बतलाना लाज़िमी लगा। राजू के इस तरह जीने और यों मारे जाने का उसके भावुक पिता लीलाधर के जीवन पर क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा। पहले ही रानी सिनेमा-संसार की ओर चली गयी थी। रानी के लिये भी लीलाधर के हृदय में निर्मल-प्रेम था। अब उसका जीवनाधार राजू भी जान

से जाता रहा और सिनेमा हॉल में। लीलाधर सिनेमा का घोर शायक़ था; पर, उस दिन से फिर जो कभी उसने सिनेमा देखा हो। इतना ही नहीं, इस सिनेमा में उसे दुर्गण-ही-दुर्गण दीखने लगे।

लेकिन सिनेमा से भी अधिक खिन्न वह अपने आप पर हुआ। नामा या नाम के लोभ में उस अभागे ने आखिर राजू को कुराह जाने ही क्यों दिया ? फाँसी उसे होनी चाहिये थी पहले, हत्यारे को बाद में। ग़लत रास्ते पर उतारकर पिता होकर भी पहले उसने राजू की आत्मा का हनन किया था। असिल में राजू तो उसी दिन मार डाला जा चुका था जब लीलाधर की देखरेख में पहले बद-आशिक़ से लिपटकर लड़के ने टके साधे थे; शैतान को गुदगुदाकर। और शैतान पहले बड़ा मोहक सरासर अपनाही, महा उदार। राजू की एक-एक कमाई लीलाधर की तड़पती स्मृतियों के आगे आयी। जेब-घड़ी, सोने की सिकड़ी, रेशमी-पशमी दुपट्टे, मिठाइयाँ, मेवाजात, रुपया, रुपये, अशर्फ़ियाँ—पाप-रुचि शैतान ने क्या-क्या नहीं दिया। इतना भगवान कहाँ दे पाते ? उन पास उक्त वस्तुएँ होती ही कहाँ हैं ? इतना कुछ शैतान ही दे सकता है फिर, एक ही झपाटे में, मौत के घाट उतारने के लिये भगवान तो जीवन-दाता हैं। हे नाथ ! हे प्रभो ! किस कोठे में पहुँचकर मेरे प्राण कैसे मन्द-फन्द में फँसे—हे दया-मय !

लीलाधर ने एक बार तो रूप और नाम और जीवन बदल साधु-वेश हमेशा के लिए धारण करने का निश्चय किया। यहाँ तक कि सत्यतः साधु होने के पहले ही चोला तो बदल ही डाला। अब वह भगवा रंग की लुंगी और लंबा चोला पहनने लगा। पैसे के लिये तो अलग आत्म-सुख लिये भी गाना-बजाना या नाचना लीलाधर ने बिलकुल बन्द कर दिया। एक तरह का विश्वास हो गया था लीलाधर के अन्तर्मन को कि नाचने-गाने आदि में लज्जा-विरहित-विकृत-वृत्ति जाग ही उठती है।

इन्हीं दिनों एक दिन लीलाधर को भदैनी-भवन से बुलाहट आयी।

"लीलाधर जी !" आते ही सु-आसन देकर महादेवी ने पूछा "यह वेश

आपने... ! संसार त्याग दिया ? साधु हो गये ? आपने मुझे पहचाना तो होगा... ?"

"भला मैं धोका खाऊँगा माताजी। एक बार इस दरबार में आना हुआ है ? कफ़नी पहन लेने से ही अगर साधुता सुलभ हो सकती तो क्या बात होती। त्यागी या साधु बनूँ—माताजी, ऐसे मेरे सौभाग्य कहाँ ? यह तो कहावत है : मन न रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा ! क्या आज्ञा है ?"

"आज्ञा दूँ यदि मानने का वचन आप दें... ।" महादेवी ने सरस-भाव से सुनाया।

"दास सेवा में हर तरह से हाज़िर है, माताजी ! आप मुझे दूसरा जगरूप ही समझिये।"

"जीते रहो बेटे !" गद्गद महादेवी ने बतलाया "मैं चाहती हूँ कि आप नाचना सिखलाएँ... ।"

"नाचना सिखलाऊँ ! किसे माताजी ?" कुछ न समझकर लीलाधर ने टटोलना चाहा।

"मुझे आप सिखा सकते हैं ?"

"कोई भी हुनर हो माताजी, दो तरह से आता है। एक तो क़ुदरती, दूसरा अभ्यास, परिश्रम, मेहनत से। मगर, माताजी ! धृष्टता क्षमा करें ! मैं कुछ समझ पा नहीं रहा हूँ।"

"भविष्य में जो औरत नाचना न जानेगी" महादेवी ने सतेज, पर सहज सुनाया "पति उसका आदर कदापि नहीं करेगा। इसलिये लीलाधर जी ! भविष्य-ज्ञानियों को चाहिये कि लड़कियों को नाचना सिखावें, गाना सिखावें—बुरा क्या है ? मैं बुरा कह रही हूँ ?"

लीलाधर को महादेवी का पागलिनी की तरह वह सावेश कथन एक धक्के-सा लगा। उसने सोचा प्रेम-मयी माता का हृदय कुपूत के दुराचार से घायल हो गया है। वह चोट-सी खायी हुई है और अपमान के आवेश

में नाचने पर तक आमादा है।"

"अम्माँ जगरूपजी आवेंगे। कहाँ तक कोई विदेश में रहेगा। अपना देश अपना ही देश होता है। वह ज़रूर एक दिन लौटेंगे।"

"नहीं, लीलाधरजी ! मैं ऐसे नहीं सोचती। मैं ऐसे सोचती हूँ कि अर्ध तजहिं....सरबस जाता। ..मैं लड़के को छोड़ूँगी नहीं। हम लोग बंबई जायँगे, नाचना सीखने के बाद....।"

"आप... ? बड़ी मेहनत का काम है माताजी, आपकी यह उम्र...।"

"मुझे नहीं, जगरूप की बहू को सिखाना है। मेरी लक्ष्मी-सी बहू नाचना नहीं जानती इसीलिये तो वह बेवक़ूफ़ नाच-नारी के साथ भाग गया। मैं अपना लड़का गवाँऊँगी नहीं, लीलाधरजी ! भगवान आपका मंगल करें—यह काम आपही कर सकते हैं। कल ही से आना शुरू करें, जो भी कहेंगे तकलीफ़ के लिये खुशी से हाज़िर... ।"

"मगर, माताजी ! नाचना-गाना वगैरह मैंने क़तई छोड़ रखा है। कहें, तो किसी और को कह दूँ।"

"नहीं बेटे ! मेरा विश्वास आपही पर है। आप जगरूप के जाने-सुने हैं। यह कम बड़ी बात नहीं है। मैं आपको आशीर्वाद और धन दोनों ही से प्रसन्न करूँगी।"

"मगर, माताजी ! मैंने तो स्वतः इस धन्धे को निकम्मा समझकर छोड़-जैसा रखा है।"

"धन्धे की बात जगरूप की माई और लीलाधर जी में हो ही क्यों ? नाचना अच्छा है, बुरा है, क्या है, मैंने इसपर अच्छी तरह महीनों तक सोच-विचार लिया है। बुरा है, चंचलता से, बहकों से भरा हुआ है, पातक है, पर उसे पसन्द है : जगरूप को, भैया को, इस पूरे परिवार के एकमात्र आधार को—तो नाचेगी अभागिनी बहू। बड़ी मुश्किलों मैंने मनाया है उसको। लड़की क्या है गऊ है बेटा। उस अभागे को इस रत्न की परवाह नहीं और कँचकड़े से परम प्रेम। बहू ! अरी बहू

रानी ! इनसे कोई पर्दा नहीं। यह तो पिता की तरह हैं। फिर कठोर समय में मज़बूत लड़कियाँ लाजलाज के संकोच में नहीं पड़तीं। बहूरानी, घर में आग लगी हो तो लाज करने से रक्षा होगी क्या ?"

गम्भीर-पगों से बिना घूँघट बाहर आकर प्रेमा ने जलपान की तश्तरी और पानी का गिलास लीलाधर के सामने रखकर, मस्तक बहुत झुकाकर, हाथ जोड़कर सादर प्रणाम किया।

"सौभाग्यवती हो ! पुत्रवती हो ! रानी बहू !" हाथ उठाकर लीलाधर ने जगरूप की परित्यक्ता-पत्नी को आशीर्वाद दिया और उसकी तरफ़ ज़रा ध्यान से देखा। और नज़र पड़ते ही अन्दर-ही-अन्दर उसका रूप-यौवन-मोही-हियरा धक से होकर रह गया। उसी वक़्त उसकी दिवंगत-पत्नी शोभा जैसे उसकी आँखों के आगे आ गयी—याद आ गया उसका अन्तिम-कथन कि मैं तुमसे फिर मिलूँगी।

स्वयं पर बे-काबू कुछ क्षणों तक वह जगरूप की पत्नी को सर-से-पाँव तक देखता ही रहा। बाद में उसे याद आया कि ऐसा आचरण उचित नहीं और वह वेश्या के कोठे पर नहीं, माननीय गृहस्थ के घर में है। प्रेमा बराबर आँखे झुकाये खड़ी रही।

"तो कब से इसको सिखलाने आते हैं ?" महादेवी ने पूछा।

"माता जी, लीलाधरने आशा-भरे स्वर में कहा, इसका उत्तर मैं कल दूँगा। उत्तर क्या आना होगा तो कल ८ बजे सवेरे मैं आजाऊँगा"

"आठ बजे सवेरे नहीं बेटा! दोपहर को १ से २ या २॥ बजे तक।" सवेरे घर का काम-काज भी तो होता है। तो आप ज़रूर आयेंगे कल १ बजे..."

"निस्सन्देह ! तबले की जोड़ी तो आपके यहाँ होगी ही।"

"है..."

"और हारमोनियम ?"

"वह भी है।"

कल १ बजे आने का वादा करते समय लीलाधर यह भूल गया कि क्षण-भर पहले उसने कल जवाब देने की बात कही थी।

: २१ :

उसी क्षण से लीलाधर के सीने में प्रेमा का चित्र चिपक-सा गया। ऐसा कि चेष्टा करके भी उसके ध्यान से वह विरत नहीं हो पाता था। प्रेमा के बारे में सोचने से उसे सुखद-मोह, आवेश और रोमांच होने लगा। यौवन और रूप के ऐसे सुरभित-प्याले को अभागे जगरूप ने त्याग दिया, साथ ही, वीभत्स और विरसता को कण्ठ से बाँधकर बंबई भाग गया। मूर्ख-मानव सहज ही पा जाने पर मणि को भी काँच मान कर तिरस्कृत कर देता है। तो क्या प्रेमा के रूप में उसकी पत्नी शोभा का पुनर्जन्म हुआ है ? और उसका पति उसको इसीलिये नहीं चाहता है कि वह निधि उसकी है ही नहीं, लीलाधर की है ? नहीं तो कहाँ कुलीन ब्राह्मण की हवेली, कहाँ नाचने की चर्चा। ज़रूर इसमें प्रारब्ध का सबल हाथ है। कबीरचौरा वाले मकान में बैठा हुआ लीलाधर यह सब सोच रहा था कि उसका एक मित्र झिल्लर तबलिया आया और आते ही चहक चला—

"वाह गुरू! आज तो बड़े ख़ुश नज़र आ रहे हो। बात क्या है ?"

"कुछ भी नहीं, झिल्लर...।"

"है तो ज़रूर कोई बात—कोई चिड़िया फँसी ?"

"अजी राम भजो...! मैं कोई बहेलिया नहीं।"

"ज़रूर कुछ-न-कुछ गोलमाल है गुरू ! तुम्हारे गाल की झुर्रियाँ ख़ुशी से फूल उठी हैं।"

"आज से एक बड़े आदमी के घर नाच सिखाने का काम लगा है।"

"य मारा गुरू ! मैं पहले ही कह रहा था कि कोई माशूक़ है इस पर्द-ए ज़िगारी में। मगर, बड़े आदमी के घर पर तो नाचने की चर्चा तक नीच मानी जाती है। अग्रवाले हैं क्या ?"

ब्राह्मण—सो भी पंक्ति...। असिल में लड़की के पति ने उसे इस-लिये छोड़ रखा है कि वह नाचना नहीं जानती। लाचार लड़का बेगाना न हो इसलिए घरवाले बहू को नाचना सिखा रहे हैं।" लीलाधर ने कहा।

"वाह गुरू ! मिले हाथ ! पहले ही मैं ताड़ गया था कि ज़रूर कोई चिड़िया फँसी है। मुशाहरा क्या होगा ?"

"आपसदारी की बात है; सो, मैंने न कुछ तय किया है न रवागीर हूँ।"

"जरूरत तो एक तबलिये की भी होगी ?" झिल्लर ने पूछा।

"क्यों ? मैं किस मर्ज़ की दवा हूँ ? मुझे क्या तबला बजाना नहीं आता ? मैं सब कर लूँगा।"

"सब ? ऐसा क्या गुरू ! आप नाच सिखायेंगे, परन, बोल सिखायेंगे कि तबला बजायेंगे ?"

"मैं अकेले ही सब कर लूँगा ?"

"बिना तनख़ाह ?"

"वह मेरे मित्र की स्त्री है।"

"समझा, आप लोग जिससे तनख़ाह नहीं लेते उससे बड़ी प्यारी चीज लेना चाहते हैं।"

"क्या मतलब ?"

"पलंग की सेवा। भौंहें न तानिये, मैं भी आप ही लोगों के बीच में रहता हूँ। शारदा क़सम खाकर कह सकते हैं आप कि आज तक एक भी युवती को बिना बिगाड़े नाचना-गाना सिखाया है ?" जैसे चिढ़कर

झिल्लर तबलिये ने सुनाया।

"वे वेश्याएँ होती थीं जिन्हें अब तक हम सिखाया करते थे; अब जिसे सिखाना है वह कुल-ललना है। मेरी बेटी-जैसी।"

"गाने-बजानेवाले उस्ताद बेटी और बाबा कहते-ही-कहते युवतियों की अँगुली पकड़ते-पकड़ते पहुँचे तक पहुँचते हैं। इस चर्चा में बम्बई के दूल्हाखाँ की याद आती है। पट्ठे का नाम ही दूल्हाखाँ था। वह कहता कि गाना-बजाना सीखने के सिलसिले में तो सभी औरतें उस्ताद के सामने चित्त से पट्ट हो जाती हैं; पर, इतना सब्र मैं नहीं रखनेवाला। मैं तो सितार पकड़कर बैठने का आसन और मुख-मुद्रा बतलाने ही में लड़की को समझाकर उससे समझ लेता हूँ।"

"दूल्हाखाँ हरामी था।"

"इस लाइन में हलाली तो एक लीलाधर नज़र आये : छप्पन चूहे खाके बिलाड़ी चली हजके। हाँ, तो दूल्हाखाँ कहता कि जिस भी युवती को वह सिखाने जाता उसे एक-ही-दो बैठकों में ले बैठता।"

"खिलवाड़ है दूसरे की बहू-बेटी को एक-ही-दो बैठकों में बरगला लेना। कैसे ले बैठता वह साला ? सुनूँ भी।"

"सितार लेकर बैठने का आसन और मुख-मुद्रा बतलाने में। दाहना घुटना मोड़ बायें घुटने को खड़ा रखकर पहले वह नयी-चेली से बैठने को कहता। फिर स्वयं सितार लेकर आसन से बैठकर कहता कि वह ग़ौर से देखे कि उसने कैसे आसन लगाकर, किस तरह सितार पकड़ा है। वह कहता आसन आ जाना आधा सितार आना है।"

"बात एक हद तक ठीक है।"

"इसके बाद वह चेली के हाथ में सितार देता कि वह सही ढंग से बैठे। पर दूल्हाखाँ की नज़र में वह कभी सही न बैठ पाती। सो, युवती के घुटने वह सही करता, सावधानी से उसकी रान सहलाता हुआ। फिर, सितार दोनों जोबनों के बीच में फ़िट करने की कोशिश में पहले

सितार की लकड़ी से उसके कुच दबाता। इस पर युवती अगर हँसकर रह जाती तो अपने पंजे का प्रयोग करता।"

"निहायत हरामी...।" लीलाधर ने सुनाया। "अकेले में जवान औरत के साथ बैठने में जो निहायत हरामी न हो जाये मुझे तो ऐसा कोई नज़र नहीं आया। हाँ, तो युवती के सीने पर क़ब्ज़ा पाते ही दूल्हाखाँ समझ लेता कि 'पास' प्राप्त हो गया। अब वह उसे 'मुस्कराकर यन्त्र लेने की शिक्षा' पर आता। दो-चार बार युवती जब उसके अनुसार सही ढँग से न मुस्करा पाती, तो वह कहता कि आप हुक्म दें तो सही मुस्कराहट मैं आपके चेहरे पर अभी पैदा कर दूँ। और लड़की की इजाज़त मिलने में देर न लगती। तब दूल्हाखाँ कहता कि अब आप सितार अलग रख पहले मुख-विलास समझ लें। आसन और मुद्रा आते ही सितार आया ही समझिये। ज़रा मुस्कराइये, मेरी तरफ़ देख कर। स्वभावतः लड़की मुस्कराती, मगर झेंपती हुई। वह कहता आप शर्म करती हैं। शर्म करनेवाला भला क्या कला सीखेगा—पहले शर्म छोड़िये। और वह निकट जा, हाथ पकड़कर युवती को सीने से लगा कर कस-कसकर चूमने, उसके गालों पर अपने होठों से गुदगुदाने लगता। अब युवती के खिलने में देर न लगती—वह प्रफुल्लित हो उठती। इसके बाद जब वह सितार लेकर स-आसन बैठ मुस्कराती-मुद्रा बनाती तो दूल्हाखाँ मंजूर कर लेता कि सही है। यह सब सुनकर मुझे ऐसा बुरा लगा कि दूल्हे के बच्चे का खून ही कर डालूँ। लेकिन दूल्हाखाँ कहता कि फिर तो लड़कियाँ ही आग्रह करतीं कि वह उसे क़ायदे से सितार लेना और सही आसन-मुद्रा से बैठना एक बार और बतलायें।"

"हे नाथ!" लीलाधर ने हैरत का नाट्य किया "मारो गोली! जिसका पाप, उसका बाप....इसके अलावा इस अंग्रेज़ी राज में कोई कर ही क्या सकता है? एक बात और है। बम्बई की बात और है, बनारस की और। यहाँ दूल्हाखाँ होता तो जूते ही न खाता सुसरे की नाक तक

काट ली जाती।"

"गुरू की बातें ! गोया झिल्लर बनारस में पैदा ही नहीं हुआ है। बम्बई में जो लीलाएँ खुले-आम होती हैं बनारस में वही लीलाएँ पर्दों में पटाई जाती हैं। अन्धकार और दुर्गन्ध में। मज़े लेना बम्बईवाले जानते हैं, मगर बनारसवाले केवल पाप करना जानते हैं।"

"कहाँ बनारसवालों को सुबह-सुबह झिल्लर तबलिये ने ला पटका ! अबे बा—बे तबलजंग !"

"तबलची ? दस मिनट तो मेरी संगत में तुम गा नहीं सकते। भूल जाओ लीलाधर ! बम्बई में मैंने उस्ताद नत्थनखाँ की शागिर्दी में साढ़े तीन साल तक तबले की कमर-तोड़-साधना की है। दम-खम हो, तो अभी बैठ जाओ और चाहे जो राग, जिस ताल का, गाकर नमूना देखो।"

"अबे नमूने के बच्चे !" लीलाधर बिगड़ा "जाता है अभी कि लगाऊँ चपत...?"

"मामूली आदमी की चपत हिंसा भरी, बे-सुरी दुर्गतिवाली। लेकिन तबला-वादक की चपत भी सुरीली, लयदार, सुगतिवाली होती है। लीलाधर, तुम्हारी खोपड़ी में भेजा—भेजे में दिमाग भी है ?"

दोस्ताना अदा से—हाँ—झिल्लर लीलाधर के प्रहार से बचने के लिये तीव्रता से भाग गया। साथ ही, अनायास ही, उसको सावधान करता गया कि दूल्हाखाँ बनने से वह बचे।

और लीलाधर बचा—भदैनी-भवन में अपने मित्र जगरूप की रूपवती पत्नी को नृत्य-शिक्षा देने के दर्मियान में। एक-दो-दिन नहीं दो-दो घंटे नित्य दो वर्ष तक जब उसने प्रेमा को नृत्य-कला की शिक्षा दी तब कहीं जाकर वह नाच निकली। प्रेमा लीलाधर को गुरू या पिता जैसा मानती थी और एक क्षण के लिये भी जगरूप के अलावा उसके हृदय में लीलाधर तो क्या देवी-देवताओं तक का खयाल या ख्वाब नहीं आया।

नाचने से जगरूप उसका हो जायगा, सदाके लिये; इसी आशा से माती हुई वह नाचना सीख रही थी।

नृत्य-कला सिखाने के सिलसिले में लीलाधर प्रेमा के इतने निकट आता जितना उधर के मर्यादानुसार पर-पुरुष को कुलीना, आर्या के निकट नहीं जाना चाहिये। पर, लीलाधर के मन में क्या था लीलाधर जाने। प्रेमा पूर्णतः पाक थी। लीलाधर, अक्सर, प्रेमा की साड़ी सुधार देता जिससे नाचने में दिक़्क़त न पड़े। वह ऐतराज़ न करती। लीलाधर जो भी कहता निष्ठा से आज्ञा का पालन करती। तन्मयता और तत्परता से—सदा से—मुश्किल आसान होती आयी है। आशा के प्रतिकूल प्रेमा बहुत उत्तम और बहुत शीघ्र नाचने लगी। यहाँ तक कि महादेवी ने बम्बई जाने की पूरी तैयारी कर ली, ज्योतिषी से दिन और समय तक पूछ लिया।

अब लीलाधर के मन को ऐसा लगने लगा मानो प्रेमा को एकाएक छोड़ देना सहज नहीं है—जिस युवती, सुन्दरी, मन-मोहनी के साथ पिछले दो वर्षों से नित्य वह दो-दो घंटे रहता था—उसको हँसाता था, खेलाता था, नचाता था। गुरु और बाप वह था—बेशक; पर, शायद ऊपर से। अन्दर-ही-अन्दर उसका मन पर-स्त्री और युवती के संसर्ग का मोहक-रस बराबर ग्रहण करता रहा। अब जो प्रिया-प्रेमा के बम्बई जाने की नौबत आई तो लीलाधर का कलेजा कचोटने लगा। काश, वह भी बंबई जाता और वहाँ भी प्रेमा का शिक्षक—नृत्य-शिक्षक बना रहता। लेकिन यह संभव नहीं लगा। तब लीलाधर विकृत कल्पना करने लगा कि प्रेमा को उसकी सास बंबई में भी नृत्य-कला सिखलाती ही रहेगी। क्या भरोसा है कि बंबई में दूल्हाख़ाँ के भाई प्रेमा को नहीं मिलेंगे। फिर ? फिर ?? बराबर चाह कर भी उसने चाह से जिसे कभी हाथ तक नहीं छुलाया था जल्द ही बंबई के बद-चलन उस्ताद उस पाक़ीज़ा का रस लेंगे ? पर लाचारी थी। प्रेमा का बंबई जाना वह किसी तरह

रोक नहीं सकता था ।

अब लीलाधर के मन में वासना-वायु वहकने लगी । वह अन्तर्द्वन्द्व में पड़ गया । अभी औरत उसके हाथ में थी; वह सब-कुछ कर सकता था । फिर कुछ किया-कराया जा नहीं सकेगा । लीलाधर ने दिन-दहाड़े सपना देखा कि दूल्हाख़ाँ—प्रेमा का बंबैया-उस्ताद—उसको नृत्य सिखला रहा है। साथ ही और क्या कर रहा है जो लीलाधर को बिलकुल पसन्द नहीं । पर तुरन्त ही उसे ज्ञान हुआ कि बंबई नहीं अभी तो वह बनारस में है तथा प्रेमा उसीकी मुट्ठी में है—फिर ? फिर ??

उस दिन लीलाधर ने प्रेमा को एक नृत्य के अभ्यास में टोककर उसमें एक नया भाव जोड़ते हुए समझाया कि नाचते-नाचते प्रियतम के ध्यान में एक समय एक मिनिट तक वह ऐसी एकाग्र-चित्त खड़ी रहे, ऐसी भंगिमा से विदित हो मानो तन-बदन की सुधि ही नहीं है । इसके साधने में प्रेमा बार-बार गिर पड़ती और लीलाधर उसे अंक में बार-बार भर लेता था । पर, वासना-वायु का प्रवेग बराबर यक तरफ़ा रहा। लीलाधर की हर क्रिया को प्रेमा ने शिक्षा ही का अंग माना । आख़िर वह ऐसी आत्म-सुधिहीन खड़ी रह गयी कि एक बार लीलाधर को ऐसा लगा कि वह मर तो नहीं गयी । धड़कन जानने के लिये कि उसने प्रेमा के सीने पर हाथ रखा—बिजली का धक्का-जैसा लगा लीलाधर को । फिर उसने यह जाँचने के लिये कि उसकी साँस चल रही है युवती के सुन्दर होठों पर अँगुलियाँ रखीं । उसके मन में क्या विचार उठने लगे । यह सब बहुत शीघ्र हुआ और तुरन्त प्रेमा होश में आ गयी । उसने सलज्ज अनुभव किया कि वह लीलाधर के अंक में—उसकी लपेट में है । उसका मुख उसके अधर के निहायत निकट है । वह यों चमककर लीलाधर की गोद से फिसल फ़र्श पर जा रही जैसे धोके से संडास में गिरने के बाद कोई शुद्ध स्थान की तरफ़ लपके । पर वह लीलाधर के प्रति नीरस अनुदार या अकृतज्ञ नहीं बनी । उसने अपने मन

के भावों को छिपाते हुए उससे कहा : "आप गुरू ही नहीं, मेरे पिता-तुल्य हैं। आप कृपा न करते तो नृत्य-कला में कदापि न पाती। हमारे आपके सीखने-सिखाने का आज अन्तिम दिन है। हम परसों बम्बई जा रहे हैं।"

"देखो, बन पड़ा तो मैं भी कभी बम्बई आऊँगा—गुरूजी (जगरूप) से कहना, मुझे याद करेंगे, पता देंगे।"

इसी समय महादेवी एक थाल में मिठाइयाँ, एक जोड़ा दोशाला और एक गिन्नी लेकर आयी और लीलाधर को देती हुई बोली : "बेटा, वैसे तुमसे हम कभी उऋण होने वाले नहीं...।"

"बहुत मिला! माताजी, आपके यहाँ से तो मुझे बराबर ही राज-दक्षिणा मिलती रही है।"

: २२ :

इन पंक्तियों का लेखक यों तो अपने आगे किसी को भी लेखक मानने को तैयार नहीं, लेकिन जन-मत का अनादर इन पंक्तियों के लेखक से हर्गिज़ संभव नहीं है। बनारस का जन-मत नन्दकुमार को लेखक ही नहीं अच्छा लेखक मानता था। उसके लेख तत्कालीन सभी पत्र-पत्रिकाओं में : 'प्रताप' में, 'भविष्य' में, 'आज' में, 'अर्जुन' में, 'माधुरी' में, 'मर्यादा' में प्रधानतापूर्वक प्रकाशित होते थे।

अच्छा लेखक किस परिस्थिति में पनपता है—जाने अच्छा लेखक, लेकिन महाशय नन्दकुमारजी 'नन्दन' के भदैनीवाले घर में अच्छाई का नामोनिशान तक नहीं था। गलियारे में अध-पक्का, पुराना, अँधेरा घर जिसके दरवाज़े पर ही सदा गन्दा रहनेवाला पाखाना। घर में न साज न सामान—आराम-विधि का एक भी विधान नदारद लेकिन

तकलीफ़ें तरह-तरह की। ऐसी ही तकलीफ़ों से आरी आकर अधिक उसने सन् १६२१ ई० वाले सत्याग्रह-आन्दोलन में जेल जाने का निश्चय किया था; आज़ादी के उग्र-निश्चय से कम। वह जेल ही में था कि उसके वृद्ध पिता का देहान्त इसी शोक में हो गया था कि उसका पुत्र जेल-खाने गया था, कुल में कलंक लगाकर। ख़ैर...

जेल से छूटने पर लेखक नन्दकुमार को बाप की विरासत में मिली पालने के लिये एक ख़ासी-भली फ़ेमिली : माता, पत्नी, छोटा भाई (विद्यार्थी) और बड़ी बहन (विधवा)। दो-दो जून खाने को पाँच-पाँच मुख जिनमें बत्तीस-बत्तीस दाँत लेकिन कमाने के लिये नन्दकुमार का हाथ एक जिसमें मात्र एक लेखनी। और बाज़ार हिन्दी का;—वह भी तीस साल पूर्ववाला। नन्दकुमार ने लाख कोशिशें कीं कि वह किसी तरह अपने प्रिय-पात्रों का पालन कर पाये, पर असंभव। हिन्दी और सशक्त हिन्दी-लेखक में वह शक्ति कहाँ जो किसी भी साधारण प्राणी में संभव मानी जा सकती है। सो, लेखनी से प्रगतिवादी होता हुआ भी लेखक नन्दकुमार 'नन्दन' हृदय से भाग्यवादी : होइहि-सोइ-जो-राम-रचि-राखा-मतवाला हो गया और ला-पर्वाह और निर्लज्ज। उसका वेद-वाक्य हो गया 'ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्'। यानी क़र्ज़ करो और घी पीओ। सो उसने झूठी बातें बना-बनाकर—कि यहाँ से पुरस्कार आता ही होगा, वहाँ से रॉयल्टी आती ही होगी मोदी, हलवाई, कुँजड़ा, धोबी और नाई तक का क़र्ज़ किया। पर, ओस चाटने से कब किसी की प्यास बुझी है? महीने में तीस-के-तीसों दिन उपवास नहीं तो उपवास के भय में उस हिन्दी-लेखक और परिवार के गुज़रते थे। इस दारुण-दरिद्रता से ऊबकर एक दिन जब नन्दकुमार की बेवा बहन न जाने कहाँ ग़ायब हो गयी तब इस सम्बन्ध में भदैनी मुहल्ले के बनारसियों ने तरह-तरह के अन्दाज़ लगाये—कि वह किसी मुसलमान के साथ भाग गयी; कि उसे किसी अबला आश्रमवाले बहका ले गये; कि बनारस के किसी विलासी

ने अपने बगीचे में उसको छिपा रखा है; कि गरीबी से नकियाकर उसने गंगा में डूब आत्म-हत्या करली है। इतने पर भी सबल-हिन्दी-लेखक का धन्धा छोड़ किसी दूसरे भले धन्धे से आजीविका कमाने की इच्छा नन्दकुमार के मन में नहीं हुई। दिल उसका हिला उस दिन जिस दिन उसकी पत्नी ने नितान्त घृणा से उसे सुनाया कि "भगवान करम फोड़े तो राँड़-बेवा-बाँदी बनावे लेकिन हिन्दी लिखनेवाले की स्त्री बनाने का नारकीय-दण्ड तो दयाकर कदापि न दे।" पत्नी की ये बातें तीर की तरह उसे लगी थीं जिससे घर छोड़कर फ़क़ीर की तरह भाग जाने का इरादा उसने किया था। पर मनतः फ़क़ीर नन्दकुमार था नहीं। उपवास वह कर लेता, पर फेरी लगाकर फ़ाक़ों से बचना उसके लिये असंभव था। फिर? उस गलाघोंटू-वातावरण से वह बचता तो कैसे? भागता तो कहाँ?

इसी अन्तर्द्वन्द्व में उसे याद आयी जगरूप की। उसने सुन रखा था कि वह बंबई में था और फ़िल्म-डाइरेक्टर की हैसियत से आनन्द, विलास, शोहरत तथा टकों की टकसाल चला रहा था। उसे पूर्ण विश्वास था कि जगरूप के मन में उसके लिये स्थान है। ज़रूर वह फ़िल्म की कहानियाँ लिखाकर या टाइटिलों के अनुवाद कराकर उसको पर्याप्त पैसे दिला सकेगा। उसने जगरूप को लिखने का इरादा किया, पर पता उसका मालूम नहीं था। ऐसे जिगरी-दोस्त को लिखने की ज़रूरत ही क्या? वह जब चाहे तब उसके पास, बिना नोटिस जा सकता है। पर मोह-वश बनारस और यह विकृत-वातावरण उससे छोड़ा नहीं जाता था। उस दुर्दशा में भी सुविधा, सुपास, खिंचाव, अपनापन-जैसा नन्दकुमार को मालूम पड़ता था। छोड़ने में हियरा हिलता था। अन्ततोगत्वा उसने वही—भाग्य का भरोसा किया। काग़ज़ के दो टुकड़ों पर दो बातें लिखीं (१) बम्बई न जाये? (२) बम्बई जाये? उन काग़ज़ों को गोल लपेटकर एक लड़की से उसने कहा कि हनुमानजी के मन्दिर

में जाकर वह एक गोली उनके चरणों में छोड़ आये और दूसरी वापस लाये। भाग्य! वापिस आनेवाली गोली के कागज पर लिखा था कि—बम्बई जाये। सो, उसने बंबई जाकर भाग्य आजमाने का निश्चय किया और एक बार और झूठ-सच बातें बनाकर सबसे क़र्ज़ किये। आख़िर महीने-दो-महीने खानेभर सामान घर में रख नन्दकुमार बंबई जाने के लिये पूरी तरह तैयार हो गया। कसर बस इतनी ही रह गयी थी कि टिकेट के रुपये नहीं थे और न कहीं से मिलने के लक्षण ही नज़र आते थे। कई मित्रों से उसने उधार माँगे; पर, सफलता कहीं न मिली। तब उसने सोचा कि 'आज' अख़बार के मैनेजर से कियायेभर के रुपये बंबई से विशेष-संवाद भेज-भेजकर भर देने के वादे पर क्यों न माँगा जाय। ज्ञान-मण्डल कार्यालय जाकर उसने परीक्षा भी की। मगर हिन्दी के सबल लेखक को 'आज' का मैनेजर ख़ुश न कर सका और 'नन्दन' जी को निराश ही लौटना पड़ा। ज्ञान-मण्डल से वह चौक की तरफ़ आ ही रहा था कि सामने से कोई झुकी हुई वृद्धा स्त्री जाती उसे नज़र इसलिये आयी कि उसके वस्त्र से थैली-सी कोई वस्तु सड़क पर गिर पड़ी थी। बुढ़िया को ईसका पता नहीं, पर लेखक ने देखा। बढ़कर उसने थैली उठाली। खोलकर देखा तो उसमें पाँच-पाँच के पाँच नोट थे। यह देखते ही पहला विचार नन्दकुमार के मन में यह आया कि यह सब भाग्य का खेल है, हनुमानजी की कृपा है। बंबई जाने के लिये नियति ने यह निधि उसे दी है। लेकिन उस अबला बुढ़िया का क्या होगा इसका ध्यान उस सबल हिन्दी-लेखक को नहीं आया। वह देर तक जहाँ-का-तहाँ खड़ा रहा कि बुढ़िया दूर निकल जाय। कोई बीस मिनट बाद वह पुनः आगे बढ़ा। मैदागिन की चौमुहानी पर उसको एक भीड़ नज़र आयी। निकट जाने पर उसने देखा वही वृद्धा व्यग्रता से रो-रो-रोकर कह रही थी कि उसके रुपये कहीं गिर पड़े—उसके बेटे की महीने भर की कमाई, उसके परिवार की तीस दिन की रोटी। अब

वह अपने घर पर जवाब क्या देगी ? "हायरे ! हायरे !"

बुढ़िया की दुर्दशा से द्रवित नन्दकुमार ने एक बार तो वह थैली उसे लौटा देने का निश्चय किया लेकिन दूसरे ही क्षण यह विचार आते ही कि बंबई जाना असंभव हो जायगा, वह कठोर हो गया। आगे बढ़ गया।

: २३ :

बनारस से बंबई पहुँचने पर लेखक नन्दकुमार को भी कुछ नया ही अनुभव हुआ। उसके युवक-मन को बंबई बनारस की तुलना में बीस ही नहीं, पच्चीस नज़र आयी। कैसी-कैसी इमारतें, कैसी-कैसी सड़कें, कैसी-कैसी मोटरें, कैसे-कैसे लोग, कैसी-कैसी लुगाइयाँ ! हो काशी पुण्य-पुरी, पर विभव-नगरी बंबई की तुलना में, चाँदी के चश्मों से देखिए तो, वाराणसी धूल भी तो नहीं। नन्दकुमार उर्फ़ 'नन्दन' को सारी-की-सारी महानगरी पुराणों की अमरावती-जैसी नज़र आयी; नर-नारी, देव-देवियों की तरह। उसकी दृष्टि में बंबई की एक-एक तितली अप्सरा-जैसी नज़र आयी। हीराबाग़ की धर्मशाला में दो रातें बिताने के बाद उसे जगरूप का ठिकाना-पता मिला : 'इला विला, सान्ताक्रूज़'। सान्ताक्रूज़ वैसे बंबई का उपनगर, पर, बम्बई की शोभा नगर, उप-नगर चारों तरफ एक भाव की। बम्बई की शोभा बढ़ाते हुए उसके उपनगर स्वयं ऐसे सुशोभित थे जैसे सुवर्ण-मुखी नव-वधू के अंग-वस्त्र—-चोली, चूनर, चादर हों। ग़रीब लेखक नन्दकुमार का मन बम्बई की चम-चम-विभूति पर लोट-पोट हो गया।

जगरूप के निवास-स्थान पर : इला विला, सान्ताक्रूज़, नन्दकुमार पहुँचा दिन के कोई डेढ़ बजे। उसे देखते ही उल्लसित हो जगरूप ने

लपककर हृदय से लगा लिया। उसका साधारण-सा सामान—बाक्स, थैला—ठिकाने से रखते हुए जगरूप ने परम प्रसन्नता से पूछा कि काशी, भदैनी में उसके घर के लोग कैसे हैं? बनारसी मित्र कैसे हैं? सबकी चकाचक छनती-घुटती है या नहीं? नन्दकुमार को पाकर जगरूप ने जैसे अपना बचपन पाया, सारा बनारस पाया।

"डियरी...ओ डियरी! ज़रा इधर आना तो—यह मेरे जिगरी दोस्त...।"

उसी समय अन्दर से मझोले-क़द की श्यामा, सुन्दरी मेम साहिबा बाहर आयीं।

"मैं परिचय कराऊँ"—जगरूप ने दोनों को सम्बोधित किया—"मेरे मित्र मिस्टर नन्दकुमार 'नन्दन', हिन्दी-लेखक और मिस मरियम रोज़—मशहूर फिल्म-हीरोइन।"

नन्दकुमार ने मिस रोज़ को दूर से नमस्कार किया : "मेरे धन्य भाग्य!" वह बोला।

"बड़े वक़्त पर आये तुम," जगरूप ने कहा—"नहा चुके हो या नहाना-धोना बाक़ी है? नहा चुके हो, तो बस खाना तैयार है। अरे ब्वाय! टेबुल पर तीन जगह खाना लगाओ।"

इसी बीच जगरूप ने ताड़ा कि मिस रोज़ नन्दकुमार को चिकनी नज़रों देख रही हैं। यह उसे अच्छा नहीं लगा। तब तक नन्दकुमार कपड़े बदलने लगा।

"यह कौन है?" धीरे से मिस रोज़ ने पूछा।

"मेरा दोस्त।" जगरूप ने धीरे से ही बतलाया।

"यहाँ क्यों आया? एक्टर है क्या? पर्सनैलिटी तो ख़ूब है। क्यों न अपनी नयी तस्वीर "सज्जनकुमार" में मेरे साथ हीरो का काम यही करे?"

"पर, यह एक्टर नहीं, राइटर...है।"

"तुम इसकी स्टोरी लेगा...?" देगा चान्स ?

"हिश ! अपनी स्टोरियाँ मैं ख़ुद लिख लेता हूँ ।"

"तो फ़िल्म की टाइटिलें लिखायेगा इससे. ..?"

"ज़रा तमीज़ से बोलो !" जगरूप ने रोज़ को सावधान किया "वह आ रहा है । क्या मन में सोचेगा कि हीरोइनें कैसी होती हैं ।"

"लेकिन वह तुम्हारा फ्रेण्ड है, मेरा तो नहीं । मैं उसे नापसन्द कर सकती हूँ ।"

"महामाया—क्षमा !" हाथ जोड़ता हुआ जगरूप बोला "यह मेरे यहाँ टिकने नहीं आया होगा । यह तो दो ही चार दिनों में फ़ेडप होकर चला जायगा ।"

उस दिन दस्तरख़ान ज़मीन ही पर बिछाया गया था । जगरूप की दाहिनी तरफ़ नन्दकुमार बैठा, बाईं तरफ़ मरियम रोज़ । खाने में कई तरह के मांस, सब्ज़ियाँ, सलाद, सूप और चपातियाँ थीं । एक ख़ास डिश की तरफ़ इशारा कर जगरूप ने नन्दकुमार से पूछा—

"जानते हो इस डिश में क्या है ?"

"मटन मालूम पड़ता है ।"

"मटन इस डिश में है । यह तो वाराह भगवान का गोश्त है ।"

मिस रोज़ ने ताड़ा कि सूअर का गोश्त नन्दकुमार छू भी नहीं रहा है । उसने एक क्षण मन-ही-मन कुछ निश्चय-जैसा किया । दूसरे ही क्षण सूअर के मान्स का एक बड़ा-सा खण्ड उठा, दाँत से काट, छोटा खण्ड मुँह से हाथ में निकालकर जगरूप को देती हुई उसने कहा—

"यह अपने फ्रेण्ड को दो !"

और जगरूप ने सुन्दरी औरत की आज्ञा का पालन बिना ननुनच किया । शायद इसके सिवाय अन्य गति नहीं थी । नन्दकुमार ने भी सुन्दरी के दाँतों से कटा हुआ सूअर के मान्स का टुकड़ा यों मुँह में डाल लिया जैसे परम-प्रसाद । साथ ही, ऐसा कृतकृत्य-रूप बनाया मानो

स्वर्ग ही पा गया हो अथवा सुधा ही ! असिल में मिस रोज़ की यह हरकत भी जगरूप को कम बुरी नहीं लगी लेकिन विरोध उससे किया न जा सका। की जा सकी केवल खुशामद—"नन्दकुमार पामिस्ट भी बहुत अच्छा है—रोज़, डियरी !"

"ऐसी बात !" रोज़ ने नन्दकुमार की तरफ़ लुभावने-ध्यान से देखा।

"यों ही..." नन्दकुमार ने सुनाया "दिल-बहलाव के लिए पामिस्ट्री का शौक़ कर रखा है। इस इल्म का जानना ऐरे-ग़ैरे हरेक का काम नहीं है।"

फिर तो सारे दिन मिस मरियम रोज़ नन्दकुमार से अपना हाथ देखने का आग्रह करती रही और वह मित्र की चहेती का पाणि-ग्रहण करने से संकोच करता रहा। निस्संकोच-कामुकों में रमनेवाली फ़िल्म-नटी की निगाहों में नन्दकुमार का संकोच बड़ा ही अनोखा और आकर्षक मालूम पड़ा। रात्रि का भोजन करने तीनों जने एक-एक डबल-पेग मदिरा छक कर बैठे। इस बार मिस रोज़ बीच में थी और नन्दकुमार के काफ़ी निकट भी। बातें भी वह उसी से विशेषतः कर रही थी सो—भी आँखों-में-आँखें भिड़ा-भिड़ा कर। मिस रोज़ जब भी नन्दकुमार से आँखें लड़ाती वह मारे संकोच और मित्र के लेहाज़ के नेत्र नीचे कर लेता। यह बात उस नटी को असह्य-सी लगी :

"तुम मेरी तरफ़ देखता क्यों नहीं ?" शराब से बहकी हुई वह बोली।

"देख ही तो रहा हूँ।" नन्दकुमार ने भी औरत की तरफ़ विनोद से देखते हुए कहा—"अब कैसे देखूँ ?"

दोनों देर तक एक-दूसरे की तरफ़ देखते रहे। पर, शीघ्र ही, नन्दकुमार ने जगरूप के लेहाज़ से खाने पर ध्यान दिया।

"क्यों ? क्यों ?" उन्मत्त-विहारिणी रोज़ ने नन्दकुमार से पूछा—

"तूने आँखें हटा क्यों लीं ?"

"हम खाने के लिए बैठे हैं बाई ! न कि आँखें लड़ाने के लिए।" नन्दकुमार के मुँह से बेसाख्ता निकल गया। यह सब जगरूप को भी बहुत ही बुरा लगा। आधा गाकर उसने तुलसीदास की मशहूर अर्धाली नन्दकुमार को सुनायी :

"ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी।
सकल ताड़ना के अधिकारी।"

उक्त अर्धाली का अर्थ तो मिस रोज़ की समझ में बिलकुल नहीं आया, पर, कहनेवाले का कु-भाव छिपा न रह सका—"क्या मतलब ? क्या मतलब ?" उसने नन्दकुमार से अर्धाली का मतलब पूछा, जिस पर विवशता दिखलाता हुआ नन्दकुमार बोला कि वह जगरूप ही से मतलब पूछे।

जगरूप जब हाथ धोने लगा तब नन्दकुमार के कान में रोज़ ने बतलाया—

"मैं तुझसे हँसती-बोलती हूँ तो यह साला जलता है—यह सोचे बग़ैर कि जब यह फ़िल्म-लाइन की दूसरी औरतों से खिलवाड़ करता है तब मुझ पर क्या गुज़रती है। इसीलिये मैं भी साले को मौक़े-बे-मौक़े पिड़काती रहती हूँ।"

"आप मेरे कन्धे पर रखकर जगरूप पर बन्दूक न दागें तो ठीक। वह मेरा मित्र है।"

"हा हा हा हा ! नन्दकुमार के चौड़े कन्धे को सहलाती हुई रोज़ बोली—"तेरे कन्धे इस काबिल हैं तभी तो...!"

बैठनेवाले कमरे में आते ही शिथिल सा हो जगरूप सोफ़े पर लुढ़क पड़ा। इससे मिस रोज़ का उत्साह उसी तरह बढ़ा जैसे तीरन्दाज़-भिल्लनी का निशाने पर तीर लगने से बढ़े।

"इधर आओ मिस्टर !" नन्दकुमार को उसने हाथ पकड़कर

खींचा—"यहाँ बैठो और सीधे से मेरा हाथ देखो। मैं छोड़ूँगी नहीं तबतक जबतक तुम मेरे भाग्य की एक-एक रेखा देख नहीं लोगे; बला से इसमें सारी रात ही क्यों न लग जाय।"

मिस रोज़ का हाथ पकड़ते हुए नन्दकुमार ने जब जगरूप की तरफ़ देखा तो उसे निन्द्रागत पाया। नाक बजती हुई। तेज़ फ़िल्म-नटी ने ताड़ा कि नन्दकुमार मित्र की उपस्थिति से हिचक रहा है। एकाएक उठकर उसने नन्दकुमार से कहा, "चल मेरे कमरे में। यहाँ इसके नक-बाजे के सामने बातें ना-मुमकिन हैं।" नन्दकुमार कुछ कदराया, पर मिस रोज़ ने उसको बरबस खींचा। कमरे में एक बड़े पलंग के अलावा शृंगार-टेबुल और दो कुर्सियाँ भी थीं। दोनों आमने-सामने बैठ गये। औरत ने नन्दकुमार की आँखों-से-आँखें मिलायीं। पुरुष भीतर-ही-भीतर सिहरा। उसे लगा जैसे मिस रोज़ उसको अपने आकर्षण के मकड़-जाले में खींचना चाहती है। वह झिझकता था इसलिये नहीं कि मकड़-जाला मोहक नहीं था बल्कि इसलिये कि वस्तु मित्र की थी और मित्र भी जिगरी जिससे दाँतकाटी रोटी। रोज़ी को लेकर नन्दकुमार के मन में मित्र के प्रति पावन-कर्त्तव्य और सुन्दरी स्त्री के अदम्य-आकर्षण में द्वन्द्व छिड़ गया।

"तू उससे डरता क्यों है? तू मूड में क्यों नहीं आता? ऐसे उखड़ा-उखड़ा-सा क्यों बैठा है जैसे लाल तवे पर ही तो हो? तू कहता है कि जगरूप तेरा फ्रेन्ड है! हा हा हा हा! जगरूप अपने बाप का भी फ्रेन्ड नहीं है। तू भी बनारसी है? है तो? मैं पूछती हूँ क्या सभी बनारसी ऐसे होते हैं जैसा कि फ़िल्म डाइरेक्टर क...है या ज...यानी यह जगरूप?"

"आप बनारसियों पर बेहद नाराज़ मालूम पड़ती हैं...।"

"बदमाश! अब तक फ़िल्म-लाइन में बनारस के जो डाइरेक्टर बंबई आये हैं, एक-से-एक फ़रेबी; खासकर औरत-फ़रेबी के माहिर।"

"ग़र्ज़ कि बनारस के इन गुणियों में आपको कोई ख़सूसियत नज़र आती ही नहीं ? ये मिस्टर चौ...मिस्टर क...या जगरूप आज मशहूर डाइरेक्टरों में माने जाते हैं...।"

"भानमती का कुनबा। ये साले फ़िल्म बनाना क्या जानें ? ये तो कहीं-की-ईंट-कहीं-का-रोड़ा--भानमती-ने-कुनबा-जोड़ा हैं। केवल डर्टी नक़ल अमरीकी-तस्वीरों की : निर्लज्ज नक़ल। और हिमाक़त यह कि क्या मज़ाल कि कोई औरत बिना अस्मत दिये पिक्चर में प्रापर पार्ट पा जाय। और आब देते ही महताब ही नहीं चुड़ैल भी हीरोइन बनी बैठी है !"

"आप ख़ुद कई पिक्चरों की हीरोइन ! यह सब आपके मुँह से सुनकर मुझे तो आश्चर्य होता है।"

"मैं भुक्त-भोगिनी हूँ—मिस्टर ! तभी तो तुमसे कह रही हूँ। मेरा ख़ून इस लाइन के हरामियों ने चस्के से चखा है।"

नन्दकुमार की आँखों में ऐसा भाव चमका जिसका अर्थ था कि रोज़ नशे में बहक रही है। मिस मरियम रोज़ ने तेज़ी से ताड़ा। वह तड़प उठी—

"तुझे विश्वास नहीं मेरी बातों का ? तुम सोचता है मिस रोज़ नशे में है ? मिस रोज़—मिस्टर ! (क्या है तुम्हारा नेक नाम ?) शराब इसलिये पीती है कि भूल जाय कि उसका ख़ून-गर्मागर्म पिया जा चुका है—घटाघट —जो ज़िन्दगी में फिर हासिल होनेवाला नहीं है।"

नन्दकुमार ने देखा मिस रोज़ रो रही थी। "मिस्टर...! अच्छी औरत होने के सबब मैं ऐसी चूस ली गयी कि फ़िलहाल न अच्छी रही न औरत। तुम ज़रा मेरी हथेली की रेखाएँ तो देखो। मेरे भाग्य में क्या बदा है ? किसी पुरुष से सुख है भी मेरी क़िस्मत में ?"

"है न।" बिना हाथ देखे ही नन्दकुमार ने सुनाया "मित्रवर जगरूपजी से।"

"पथरा है सुख इस हरामी से। यह तो औरत की कमाई खानेवाला है। चाहता है कि मैं इसे खिलाऊँ भी, सुलाऊँ भी। भले जैसे। यह मेरा आशिक़ नहीं, माशूक़ बनकर रहना चाहता है। इस जगरूप-तुम्हारे यार ने—मत सहल इसे जानो—पिछले तीन-ही-चार वर्षों में फ़िल्म-लाइन की पचीसियों औरतों को लूटे हैं--(यही वर्ड है) उनके तन को, धन को।"

"आप बड़ी साफ़-गो हैं। आपकी बातें सुनकर मुझ-जैसे बंबई में नये आदमी को अपार आश्चर्य होता है। आपका यह बँगला, यह ठाट-बाट, यह प्रदर्शन! और अन्दर झाँकिये तो यह नारकीय असन्तोष! कृपाकर इतनी चर्चा आपने न चलायी होती तो मुझे तो यही विश्वास रहता है कि जो कुछ सम्मुख है वह स्वर्ग-ही-स्वर्ग है और आनन्द-ही-आनन्द। आपकी बातों ने फ़िल्म-लाइन के प्रति मेरे मन में भय उत्पन्न...।"

"भय? भय-ही-भय है। धरम का, करम का, शरम का। लेकिन रुपये हैं। पुष्कल। सो, आदमी है कि शैतान से भी बाज़ी लेने को तैयार है।"

"आप जब इतना ज्ञान रखती हैं," नन्दकुमार ने जैसे साहस बटोर कर पूछा "तब इस सर्वनाशी-धन्धे से अलग क्यों नहीं हो जातीं...?"

"यही हो सकता मिस्टर..." रोज़ ने स-खेद सुनाया, "तो क्या कहने थे। यह हमारी बद-तक़दीरी है कि हम जिसे बुरा मानते हैं उसीके हाथों रोटी खाते हैं। आराम की आमदनी की भी लत लग जाती है ऐसी कि लत नहीं जाती भले इज़्ज़त, हुर्मत, आफ़ियत चली जाय। अक्सर मैं बड़े सोच में पड़ जाती हूँ कि कल जब यह देह ज़रा भी चमकीली नहीं रह जायगी तब क्या होगा मेरा? आज ही नयी, नक़द, छोकरियों के सामने मेरा चेहरा उधार नज़र आता है।"

"समय रहते ही अच्छी फ़िल्म-नटियों को किसी भले आदमी का

पल्ला पकड़ लेना ही होगा।"

"आदमी और भला ? मुझे तो तुम्हीं एक भले आदमी नजर आ रहे हो। इसलिये कि मैं तुम्हारे बारे में कुछ नहीं जानती। ज्योंही जानूँगी—ज़ियादा जानने से जी हिचकेगा।"

"मैं यह जानना चाहता हूँ" नन्दकुमार ने गंभीरता से पूछा, "आप मेरे मित्र से नाराज़ क्यों रहती हैं ?"

"वह आदमी ही नहीं है..."

"उसके हाथ-पाँव-मुँह-नाक-कान देखकर आदमी छोड़कर और उसको कहा क्या जा सकता है ?"

"ठीक है, लेकिन उसकी हरकतें देखकर तो जानवर भी कहने में कम मालूम पड़ता है।"

"आप जगरूप पर बहुत नाराज मालूम पड़ती हैं।"

"मैं एक वाक़या बतलाकर तुम्हें बतलाऊँ कि मैं उसको जानवर क्यों कहती हूँ। मुझसे पहले बम्बई की बीसियों बद-बीवियों से इसके लगाव रह चुके हैं। मैं मालाबार हिल का क़िस्सा सुनाती हूँ। तब जगरूप उसी लोकैलिटी में रहता था—मशहूर तवायफ़ मलिक़ा के नजदीक़। इसका लगाव मलिक़ा से भी था। वह उसको रुपये देती थी, यह उसके पाँव दबाता था। एक दिन उसका इन्तजार करते-करते थक कर वजह समझने के लिए जब मलिक़ा इसकी फ़्लैट में पहुँची तब हजरत किसी और ही औरत के साथ धन्धा चला रहे थे। इस पर मलिक़ा ने वो हंगामा उठाया कि आधीरात के वक़्त सारा मालाबार हिल हिल उठा। जगरूप और उसकी सेज-संगिनी को पचासों जूतियाँ मलिक़ा ने लगायीं। जगरूप के बेड-रूम का सामान उसने सड़क पर फेंक दिया था। दूसरे ही दिन यह आदमी मालाबार हिल वाले फ़्लैट से निकाला, उस लोकैलिटी से भगा दिया गया था। तब मैंने इसे अपने घर में पनाह दी थी। न देती, तो उस वक़्त इसको बंबई में शायद ही

जगह मिलती।"

"सब कुछ जानकर आपने फिर जगरूप को पनाह दी ही क्यों ?"

"मैंने सोचा इसने बीसियों औरतें बर्बाद की हैं तो मेरा भी सामना करे...।"

"आप इस फेर में न पड़तीं तो...शायद...।"

"ना! मुझे इस आदमी की ज़रूरत है। नकेल हाथ में रहे तो यह आदमी मुझे हर पिक्चर में हीरोइन बना सकता है, मोटी पगार दिला सकता है, मेरी पब्लिसिटी करा सकता है। मैं इसे मार सकती हूँ, यह मुझे छू तक नहीं सकता, क्योंकि इसकी खास कमज़ोरी मैं जान गयी हूँ..."

"कमाल...! वह क्या ?"

"यह भली औरत का क़साई है यानी बुरी औरत का बकरा है। औरत ज़रा भी भली हुई नहीं कि जगरूप ने उसकी जान ली...।"

"सो...आप...।"

"मिस्टर, मैं बुरी औरत हूँ और इसने भी धोके दे-देकर मुझे चैलेंज दे रखा है। हमारी बाज़ी लड़ी-जैसी है। यह मुझे हड़प जाना चाहता है। लेकिन मैं वैसी नहीं, जैसियों को हड़पने का जगरूप आदी है। पर, तुमने मेरा हाथ तो देखा ही नहीं—मैं खास तरह से यह जानना चाहती हूँ कि मेरी उम्र कितनी है ?"

अब मिस मरियम रोज की हथेली की रेखाएँ देखता हुआ नन्दकुमार बोला—"उम्र की तरफ़ से तो आप फ़िक्र करें ही नहीं। साठ साल से पहले आपके सर में दर्द तक नहीं होना चाहिए।"

"यह जानकर खुशी हुई कि मैं सहज मरनेवाली नहीं हूँ। काश, जगरूप भी इस जानकारी से वाकिफ़ होता। लेकिन सर में दर्द तो ज़रा भी कड़ी दारू पीने से अक्सर मुझे होता रहता है—ज्योतिष तुम्हारा यों ही मालूम पड़ता है।"

"जब ज्योतिष तो कहे कि सर में दर्द तक न होगा, पर, आदमी दीवार से टकराकर सर में दर्द मोल ले, तो इसमें ज्योतिष की झुठाई बिलकुल नहीं और आदमी की हिमाक़त ही सरासर है।"

"मैं एक बात और पूछना चाहती हूँ।"

"ज़रूर..."

"मगर, कान में कहूँगी।"

नन्दकुमार ने अपना बाँया कान मिस-रोज़ की तरफ़ किया। कान की तरफ़ मुँह करने में रोज़ के अधर ज़रूर नन्दकुमार के गाल से रगड़ गए होंगे, क्योंकि वह सिहर-सा उठा। मिस रोज़ ने फुसफुसाकर कहा—

"कल ज़रा जगरूप का हाथ देखकर मुझे यह बतलाना कि उसकी उम्र कितनी है? मुझे ही बतलाना—उसे नहीं। बतलाओगे?"

रोज़ ने अपने होंठ फिर नन्दकुमार के गाल से सटाये। नन्दकुमार ने मन्त्र-मुग्ध मंज़ूर किया—

"हाँ...।"

इसी समय जगरूप कमरे में—नींद से लड़खड़ाता हुआ उनकी तरफ़ आता नज़र आया। उसने नन्दकुमार से अपनापन भरे उपालंभ के स्वर में कहा—

"अरे तुम भी किसके फेर में फँसे! अभी तक इनकी हस्त-रेखाएँ ही देखी जा रही हैं! सोने का वक़्त हुआ। मुझे तो तभी नींद आ गयी थी।"

"तो आप बाख़ुशी सोएँ।" मिस रोज़ ने जगरूप से नीरस कहा, "मैं हाथ की रेखाएँ दिखलाती हूँ या क्या करती हूँ इस फेर में कोई पड़े ही क्यों?"

"मैंने तुम से तो कुछ कहा नहीं? मैं तो अपने मित्र से बातें कर रहा हूँ। इस बीच में तुम अपनी टाँग न अड़ाओ, रहम करो...।"

"किस पर ?"

"अपने आप पर। और किस पर...?"

"तेरे मरे बाप पर नहीं ? हरामी !"

"नन्दकुमार !" उत्तेजित जगरूप ने रूक्ष सुनाया "तुम इसी कमरे में सोओ। दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लो। मैं इस बदज़ुबान औरत की ज़ुबान न खींच लूँ तो मेरा नाम नहीं...।"

वह मिस रोज़ को ड्राइंग-रूम की तरफ धकेल ले चला :

"सूअर ! सबके सामने बदज़ुबानी ! साली ! कमीनी !"

भयभीत नन्दकुमार ने दरवाज़ा बन्द करते-करते मिस रोज़ की तेज़ आवाज़ सुनी : "कमीने का बच्चा ! सूअर का बच्चा !"

इसके बाद ड्राइंग-रूम में शायद दोनों दोनों को मारपीट रहे थे। नन्दकुमार को ऐसा ही लगा। भय से सिकुड़कर वह जगरूप के नरम बेड पर सो गया।"

सुबह पहले नन्दकुमार ही की नींद खुली। धीरे से द्वार खोलकर उसने ड्राइंग-रूम में जो झाँककर देखा तो सहसा अपनी आँखों पर उसे विश्वास नहीं हुआ। मिस रोज़ और जगरूप परम-प्रेमियों की तरह लिपटे हुए एक ही सोफ़े पर बेख़बर सो रहे थे।

रोज़ या मिस मरियम रोज़ लेखक नन्दकुमार की प्रेयसी नहीं थी। अपनी पत्नी तो वह भदैनी, काशी में, दुःखों में छोड़ आया था। फिर भी, जगरूप की गोद में उस औरत को देख जिसने अभी पिछली रात उसके गाल से अधर लगाये थे, मन-ही-मन नन्दकुमार जल-सुलग-सा गया। औरत की सूरत दरमियान आते ही मित्र की मुरव्वत उसके मन से उड़ने लगी। "ऐक्ट्रेस किसकी बीवी ?" उसने तर्क किया। जगरूप जिस तरह मिस रोज़ को फँसा सकता है, उसी तरह क्या वह भी डोरे डालने, भाग्य आज़माने के लिये आज़ाद नहीं है ? मिस रोज़ राज़ी हो जायँ—नन्दकुमार ललचाया—तो क़िस्मत ही खुल जाय।

दारिद्रय ही दूर हो जाय। फ़िल्म-लाइन की उन्नति का राज-मार्ग ही प्रशस्त हो जाय।

१० बजे जगरूप जब मिस रोज़ के साथ शूटिंग के लिये स्टूडियो जाने लिये गैराज से मोटर निकालने चला तो उसने नन्दकुमार को भी चलने के लिये तैयार पाया।

"मगर, आज तुम न चलते...तो...।" जगरूप ने लेखक से कहा।

"मगर कल ही मेरे चलने की बात तुम्हीं ने तय की थी। आज क्या हो गया कि राय बदली जा रही है? सो भी बिना नोटिस...।"

"वह नहीं चाहती कि तुम आज हमारे साथ चलो।"

"कौन नहीं चाहती?"

"मिस रोज़...।"

"मिस रोज़ से मेरा वास्ता?" ज़रा चमककर नन्दकुमार ने सुनाया—"मैं जगरूप के घर पर मेहमान हूँ।"

"नो मिस्टर।" बीच ही में मिस रोज़ टपकी: "यह झूठ कहता है कि मैं नहीं चाहती। तुम चलो साथ। तुम मेरे सर-आँखों पर चलो। यही अफ़ीम खाता है। बेशक, तुम चलो।"

इसके बाद स्टूडियो में, सारी शूटिंग में मिस रोज़ ने नन्दकुमार पर ऐसा ख़ास ध्यान रखा जिससे जगरूप चिढ़ता रहा। शूटिंग के बाद भी, सिनेमा देखने जाती हुई, ड्राइव करते जगरूप के पास न बैठकर उसने पसन्द किया पीछे की सीट पर नन्दकुमार के साथ बैठना। यह बात भी जगरूप के मन में सारी राह खटकती रही।

बांबे सेंटर स्टेशन के पास उन दिनों एक मदिरालय, होटल था: इम्प्रेस-बार। स्टूडियो या बम्बई से सान्ताक्रूज़ लौटते हुए जगरूप—प्रायः हमेशा—इम्प्रेस-बार में मोटर रोक कर जाकर, एकाध-पेग शराब खड़े-ही-खड़े पीता और भोजन के समय के लिये बीयर की दो बोतलों की फ़र्मायश कर मोटर में आ बैठता। थोड़ी देर बाद होटल का नौकर या

ब्वाय बोतलें मोटर में रख जाता था। ऐसा प्राय: रोज़ ही होता था। मगर, कल ही आये नन्दकुमार को इस नित्य-नेम का पता नहीं था। जगरूप जब होटल के सामने गाड़ी खड़ी कर बार में घुसा, उसी वक़्त मिस रोज़ ने आधे-मज़ाक़ की मुद्रा से नन्दकुमार से कहा—"तुम्हें भी कुछ पीना हो, बीयर वगैरह, तो मँगा ली जाय। क्यों?" "बीयर?" मज़ाक़ ही के मूड में नाक सिकोड़कर नन्दकुमार ने सुनाया "बीयर में भी कहीं नशा होता है? बीयर ही पीना हो, तो बिना नौ बोतलों के मेरा मन प्रसन्न होनेवाला नहीं। सो, माफ़ी चाहता हूँ।"

इसी समय होटल का ब्वाय रोजमर्रा की दो बोतलें लेकर आया।

"ब्वाय!" मिस रोज़ ने तपाक से सुनाया। (तब तक जगरूप गाड़ी की स्टियरिंग पर आ चुका था) "नौ बोतल और। समझा? नाइन मोर बाटल्स—ब्रिंग शार्प!"

"नौ बोतल? बीयर? कौन पीएगा?" साश्चर्य जागरूप ने पूछा।

"तेरा फ्रेन्ड—मिस्टर नन्दकुमार।"

जगरूप के हाथ में मोटर जैसे हिली, लेकिन तुरन्त ही वह सावधान हुआ।

"मिस्टर!" मिस रोज़ ने चलती मोटर में नन्दकुमार से कहा, "तुम चाहो तो गाड़ी ही में पीना शुरू कर सकते हो। डर नहीं है किसी साले की!"

"तुम एक्सिडेंट कराओगी डियरी।" जगरूप ने मोटर सँभालते हुए सुनाया और फिर नन्दकुमार से ज़रा रूखा पड़ा "तुमने भी यार! कहाँ अपनी प्यास टकराई। दस-बारह रुपयों की चपत बे-सबब।"

"रुपये इनके मैं दूँगी।" जगरूप को पिड़काने के लिये रोज़ ने सुनाया।

"पीऊँगा सारी-की-सारी मैं...।" नन्दकुमार ने मित्रता का सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हक़ हथियाया "और याद रहे! नौ बोतलों में से बीयर की

एक बूँद तो बड़ी वस्तु एक लेबिल भी उखाड़ कर आप लोगों को बन्दा देनेवाला नहीं है।"

"रही।" रोज़ ने सुनाया "मुझे तो बीयर चाहिये नहीं। तुम बीयर ही क्यों बाटली तक गड़प जाओ। मैं बोलूँगी तब, जब कोई अपने आपे के बाहर होगा। या नौ बोतलों में से एक घूँट भी छोड़ देगा। तब मैं अट्ठारह बोतलों के दाम—ये मिस्टर!" रोज़ नन्दकुमार का कान पकड़ती हुई बोली, "मैं कान पकड़कर वसूल कर लूँगी।"

"मैं कहता हूँ नन्दकुमार का सारा बोरिया-बँधना बेचने पर भी १८ बोतल बीयर के पैसे हर्गिज़ नहीं खड़े हो सकते। ऐसी बाज़ी लगाकर तुमने गधी की अक़्ल की नुमायिश की है।"

"गधा मैं भी तुझे कह सकती हूँ" ताबड़तोड़ मिस रोज़ ने सुनाया "पर, तुझे गधा कहकर मैं शरीफ़ गधे का अपमान नहीं करना चाहती।"

जगरूप की इच्छा हुई कि झोंटा पकड़कर उस कँटीली रोज़ की खोपड़ी अपनी ब्यूक गाड़ी के स्टियरिंग चक्र से टकरा दे। पर, वह ऐसा करने में असमर्थ था। मोटर की चाल में पुन: 'जर्क'-सा, असावधान धक्के-सा लगा।

"तू एक्सिडेन्ट करेगा।"

"एक्सिडेन्ट हुआ भी तो तू इस तरह मरनेवाली नहीं है। भले मैं ही मारा जाऊँ। तू घबराती क्यों है, हस्त-रेखा-विशारद की सेवा में बैठकर...?"

"कौन हरामी मरा, कौन जीता, इस बात के लिये घबराय मेरी बला। मुझे तो फ़िक्र इस मोटर गाड़ी की है जिसमें मेरी कमाई के भी कम रुपये नहीं लगे हुए हैं।"

"मोटर की फ़िक्र है, देखते हो नन्दकुमार! मगर, मेरी जान की कोई क़ीमत नहीं।"

"जो इन्सान होकर भी हैवान हो, उसकी क़ीमत जूती की नोक

बराबर भी मेरी निगाहों में नहीं है। कोई मुझे भाँवर घुमाकर, ब्याह रचा कर नहीं लाया है कि मैं वफ़ादार सतियों की याद करूँ। चाह है, तो ठीक है। नहीं है, तो काफ़ी है...।"

"बे-वफ़ा...।"

"आहा! वफ़ादार के इस फ़रज़न्द का मुँह तो देखो! आधी बंबई की बदक़िस्मत औरतें पूरी तरह जानती हैं कि श्री जगरूपजी कैसे बनारसी-वफ़ादार हैं।"

"आप बार-बार सारे बनारसियों को एक ही झाड़ू से जब फटकारती हैं तब मुझे बड़ा ताज्जुब होता है।" इस बार नन्दकुमार ने भी स्वर लगाया।

"मगर जनाब" मिस रोज़ ने नन्दकुमार से कहा। "तुम उसका हैट अपने सर पर ओढ़ो ही क्यों?"

ख़ैर, सान्ताक्रूज़ पहुँचकर बहुत ही विकृत-मूड या भाव में तीनों इला-विला में मोटर से उतरे। कपड़े बदलते-बदलते जगरूप ने देखा कि नन्दकुमार एक बोतल के बाद दूसरी घटाघट पीकर ग़ुसलख़ाने की तरफ़ बढ़ा। जगरूप जानता था कि धीरे-धीरे वह नवों बोतलें पी जायगा। वह ऐसा होने देना नहीं चाहता था। वह चाहता था कि पीने के मामले में नन्दकुमार के पीछे न रहे।

"ऐसा तो क्या!" ग़ुसलख़ाने से निकलते ही जगरूप ने नन्दकुमार से आजिज़ी की आवाज़ में कहा "यार साक़ी हो और यार प्यासा रहे?"

तब तक नन्दकुमार भी बीयर चढ़ जाने से उदार हो गया था। उसने मित्र का मतलब ताड़ते हुए स्वीकृति के स्वर में सुनाया—"मैं तो मज़ाक़ कर रहा था। भला नौ बोतल पीकर मैं क्या पाऊँगा?" एक बोतल उसने जगरूप के हवाले किया जिसे वह एक ही घूँट में पी गया और एक का और आग्रह करने लगा। नन्दकुमार ने एक बोतल और उसके आगे बढ़ाया। इसी समय रोज़ भी हाथ-मुँह धोकर ग़ुसलख़ाने

के बाहर निकली—"मैं सब देख रही थी कि कैसे नौ बोतलें तू खत्म कर रहा था—अट्ठारह के पैसे मैं वसूल कर लूँगी।—जी, जनाब !"

नन्दकुमार ने एक बोतल बीयर खोल, गिलास भर कर, मिस रोज़ को भी दिया। बड़े ड्राइंग-रूम में बैठकर तीनों पीने लगे। रोज़ सोफ़े पर थी, छोटे टेबुल पर गिलास निकट। वह अदा से अर्ध-लेटी हुई थी। जगरूप चार क़दम पर एक मझोले टेबुल के पास गिलास, सिगरेट-टिन माचिस और ऐश-ट्रे के साथ बैठा था। नन्दकुमार निकट ही खड़ा सिगरेट-टिन की तरफ़ ललचायी नजरों से देख रहा था। आख़िर एक निकाल, ओठों में दबा, दियासलाई की डिब्बी से उसने माचिस निकाली। लेकिन वह सलाई जली हुई थी क्योंकि जगरूप की आदत सिगरेट जलाने के बाद सलाई बुझाकर डिब्बी में पुनः रख देने की। जगरूप की इस हैबिट का विरोध करने के लिए नन्दकुमार ने वह सलाई फ़र्श के ग़ालीचे पर फेंक दी।

"अरे यार ऐश-ट्रे में डालते !" कह कर फ़र्श से तीली उठाकर जगरूप ने ऐश-ट्रे में डाल दी। तबतक नन्दकुमार ने दूसरी तीली डिब्बी से बाहर खींचली थी। लेकिन भवितव्य ! वह भी पूर्व-प्रयोगित—जली तीली निकली ! इस बार और भी तेज़ झटके से जली सलाई नन्दकुमार ने ग़ालीचे पर फेंकी।

"अरे यार !" जगरूप ने पुनः नन्दकुमार द्वारा झूठी सलाई ग़ैर-ज़िम्मेदारी से ग़ालीचे पर फेंके जाने का स्निग्ध-विरोध किया और पुन तीली नीचे से उठकर ऐश-ट्रे में उसने डाली। यह सब शायद मिस रोज़ को सुहाया नहीं।

"ओहो !" ताने से औरत ने सुनाया "ऐसा मैंने किया होता—तेरी तबियत के ख़िलाफ़ काम दो-दो बार, तो तू नाक-भौं चढ़ाकर मुझे गालियाँ दे चलता। लेकिन इसने जब किया—लिट्टी वाले के भाई गण्डेरीवाले ने—तब तू कुछ नहीं बोला। हरामी ! मैं ही तेरे लिए

अनाथ पड़ी हुई हूँ ?"

"बेशक मैं इनसे कुछ नहीं बोल सकता—यह कुछ भी ग़लती क्यों न करें। यह मेरे मित्र हैं, मेहमान हैं...।"

"तो यह मेरे भी दुश्मन नहीं हैं, दोस्त और मेहमान ही हैं। मैं इन्हें बोसे तक दे सकती हूँ।"

"क्या ?"

"हाँ नहीं तो क्या ?"

"नीच कहीं की...।"

"नीच की औलाद...।"

"कमीनी, कुत्ती, मज़दूरन की लड़की...।"

"मजदूरन की लड़की तेरी बहन से तो बहतर है जो बनारस में खसम करके निकल गयी थी !"

अब जैसे बात जगरूप के बर्दाश्त बाहर पहुँच गयी। वैसे मनचली औरतों की गालियों का वह शौक़ीन था लेकिन परिचित, मित्र, देस-वासी नन्दकुमार के सामने वही चीज़ें विषाक्त, अपमानमयी हो उठीं। वह तड़पकर मिस रोज़ के गले पर झपटा। उधर वह भी असावधान नहीं थी। बीयर का गिलास जगरूप के मुँह पर खींचकर उसने मारा। जगरूप ने भी रोज़ का गला धर दबाया। बीच-बचाव में नन्दकुमार भी धक्कों और खरोचों से बच न सका। वह डर-जैसा गया। तुरन्त, भागकर, उसने जगरूप के बेड-रूम में शरण ली और तेज़ी से दरवाज़े अन्दर से बन्द कर लिये। उन्हें लड़ते ही झगड़ते छोड़, लेहाफ़ ओढ़कर नन्दकुमार खुर्राटे भरने लगा। सुबह उसकी नींद ज़रा देर से खुली। रात की घटनाएँ स्मरण कर दरवाज़े खोलने में वह अभी भी हिचक ही रहा था। लेकिन दरवाज़े खोल सावधानी से ड्राइंग-रूम में झाँकते ही उसने पहले ही दिन की तरह मिस रोज़ और जगरूप को पूर्ण तल्लीनता से लिपटे सम्पूर्ण निद्रा-मग्न पाया। और सहसा उसे अपनी

आँखों पर विश्वास हुआ नहीं। फिर भी, वाक़या सच ही नहीं चौड़े में, आँखों के आगे था। कैसा विचित्र स्वभाव मिस रोज़ का ! नन्दकुमार ने सोचा, कैसा विचित्र स्वभाव जगरूप का ! इन्सान नहीं, दोनों ही बिल्ली और बिल्ले-जैसे उसे लगे—मारे कोलाहल के सात मुहल्ला मुखरित करने के बाद संभोग-स्वाद लेने के शौक़ीन। छिः ! क्या ऐसी औरत किसी सहृदय नागरिक को पसन्द आ सकती है ? हर्गिज़ नहीं। इसे तो कोई विकृत-विलासी ही—मगर, कैसी श्यामा, अभिरामा, नमकीन, चटपटी परी है मिस मरियम रोज़ कि न तो इसे चाहा जा सकता है, न बिना चाहे छोड़ा ही।

: २४ :

एक ही घर में दो नौजवान एक नव-युवती हों, और तीनों ही मुक्त-मिजाज़ी-पियक्कड़ हों, तो (सौ-में-सौ बार) उस औरत को दोनों ही तरुण ललचायी नज़रों से देखेंगे। यह पाप भले ही हो, पर अस्वाभाविक कदापि नहीं है। मतलब कि मदिरा के मद में मदिरेक्षणी किसी को भी महामोहक ही मालूम पड़ सकती है। फिर यदि ग़रीब लेखक नन्दकुमार मित्र जगरूप की छत के नीचे रहकर, उसीकी शराब पीकर, उसीकी चहेती को चाहने लगा हो तो इसमें अस्वाभाविक ही क्या ? और ये मनचली औरतें एक के गले में बाँहें डालकर अनेक की तरफ़ इस निमन्त्रण-अदा से देखती हैं कि "यह उसके बाम का ज़ीना है आये जिसका जी चाहे।" मिस रोज़ की नज़र में नन्दकुमार तो बंबई के विलासियों के मुक़ाबिले में भिखारी से भी गया-बीता था लेकिन जवान था वह—बेशक—ऐसा, जैसा क्या कोई करोड़पति विलासी या

फ़िल्म-डाइरेक्टर शराबी होगा। बस—इतना चारा मिस रोज़ के लिये बहुत था। वह चाहने नहीं, तो नन्दकुमार के दिल से दिल्लगी तो ज़रूर करने लगी। औरत-पसन्द-मर्द की नज़र में जिस तरह किसी भी औरत में पसन्दक़ाबिल कुछ-न-कुछ निकल ही आता है, वैसेही, मर्द-पसन्द-औरत भी किसी माक़ूल मर्द में अपने योग्य कुछ-न-कुछ रस पा ही जाती है। जगरूप की उपस्थिति में ही मिस रोज़ नन्दकुमार पर आकर्षण बरसाती और वह पी जाता। पी जाता मुस्कराता हुआ। सारी कसर जगरूप लेखक नन्दकुमार से यों निकालता कि उसे फ़िल्म में कहानी लिखने से बराबर दूर रखता इतना ही नहीं, जगरूप—ऊपर से मित्रता का सारा नाटक करते हुए भी—यह नहीं चाहता था कि नन्दकुमार भी आज़ाद आदमी की तरह चार पैसे कमाता हुआ अपने कदमों पर खड़ा हो जाय। जैसा कि उसने शुरू में सोचा और मिस रोज़ से कहा भी था, वह चाहता था कि नन्दकुमार 'फेडप' होकर, ऊबकर, नकियाकर बंबई से भाग ही जाय। जगरूप के इस प्रत्यक्ष-रूप ने अप्रत्यक्ष-रूप से नन्दकुमार को मित्र से अमित्र स्थान पर बरबस फेंक दिया था। कम-से-कम मिस रोज़ का विश्वास उसने जगरूप के विरोध ही पर पाया था। रोज़ ने नन्दकुमार से दसियों बार इशारे किये कि वह जगरूप की फ़िक्र छोड़कर उससे प्रेम करे; पर नन्दकुमार सरासर अनैतिक-रंग पकड़ने में कदराता था। इसी बीच दो दिनों के लिये जगरूप को बंबई से बाहर जाने का मौक़ा आया—अपनी फ़िल्म की आउट डोर शूटिंग की जगह देखने के लिये। जिस दिन तीसरे पहर उसे जाना था उसी दिन दोपहर को मिस रोज़ ने नन्दकुमार के सामने जगरूप से कहा—

"तू तो बाहर जा रहा है, मुझे अकेली सोने में डर लगेगा।"

"डर किस बात का?" जगरूप ने कहा—"नौकर है, नन्दकुमार हैं, फिर भी डर।"

"नहीं। अकेले कमरे में मुझे डर लगेगा। या तो तेरा दोस्त मेरे

कमरे में सोये या ख़ुद मैं वहीं सोऊँगी जहाँ वह सोता है।"

"ठीक है।" जगरूप ने मंजूर कर लिया। फिर नन्दकुमार की तरफ़ मुड़कर उसकी सूरत का उतार-चढ़ाव भाँपने लगा।

"मैं तो इनके कमरे में सोने से रहा!" नन्दकुमार ने सुनाया, "हाँ डरती हैं, तो यही मेरे कमरे में सो सकती हैं। मुझे कोई आपत्ति न होगी।"

मिस रोज़ और नन्दकुमार जगरूप को छोड़ने के लिये ग्रैण्टरोड स्टेशन तो गये, पर ट्रेन आने के पहले ही मिस रोज़ नन्दकुमार को लेकर सिनेमा के लिये चली गयी थी।

"एक बार यह हरामी मुझे छोड़ने आया था, इसी ग्रैन्टरोड स्टेशन पर" मिस रोज़ ने अपनाव से नन्दकुमार को सुनाया "और फ़ौरन ही चला गया था—एक एक्ट्रेस को साथ लेकर--स्टूडियो में शूटिंग का बहाना बनाकर। मैं भी कब छोड़नेवाली। आज साले को वहीं छोड़ तेरे साथ चली ही आयी।"

सिनेमा की गुदगुदी-सीट पर अँधेरे में नन्दकुमार के गाल से ओंठ छुआ कर मिस रोज़ ने कहा—"लोग यही समझते होंगे कि हम लोग हज़बैण्ड और वाइफ़ हैं।"

शो के बाद बंबई से सान्ताक्रूज़ की राह में बाम्बे सेन्टर स्टेशन के पास मोटर रोककर मिस रोज़ ने ब्याय से बीयर की तीन बोतलें मँगायीं। वर्ली से आगे जब ब्यूक आयी तब मिस रोज़ ने मोटर के अन्दर से गिलास और बोतल खोलने की चाबी निकालकर नन्दकुमार को दिया—"बोतल खोलो मिस्टर और पीओ!"

बोतल खोल गिलास में गाजवाली बीयर उडेल कर नन्दकुमार ने मिस रोज़ की तरफ़ बढ़ाया। वह मोटर चला रही थी—"पहले तुम्हीं शुरू करो, फिर मुझे देना।"

दो बोतल बीयर चलती गाड़ी में ही दोनों पी गये। तब मिस रोज़

ने नन्दकुमार से पुनः इशारे की बात की—"ये बोतलें सड़क पर तोड़ दो ताकि आनेवाली मोटरें पंचर हों और उन पर गुजरने वाले कहें कि इधर से मस्त लबर लोग गये हैं।"

फिर भी, सारी राह दोनों संयम से रहे। बँगले पर आकर संयम ही से साथ-साथ दोनों ने मांसादिकलितम्-भोजन भी किया। फिर एक ही कमरे में अलग बिस्तरों पर दोनों सो रहे। कोई और पुरुष होता उसी स्थिति में तो औरत के इशारे पर्याप्त थे उसे पथ-भ्रष्ट करने को; पर, नन्दकुमार मन-मसोसकर रह गया। उधर मिस रोज़ के लिये यह नया अनुभव था कि इतनी खुशामदों पर भी, नशे पर भी, अलस रात में भी, एकान्त में भी, बिलकुल निकट होकर भी कोई मर्द बिलकुल दूर रह जाय। कोई और मौक़ा होता तो संभवतः वह खुद मर्द पर हावी होने को हुमकती; पर, नन्दकुमार के गंभीर संयम के सामने स्वयं को भोगवती प्रकट करने का साहस उसे हुआ नहीं। और मन से बिगड़कर भी दोनों तन से सुथरे—नींद में निमग्न हो गये। इस घटना ने जैसे वासना को प्रेम का मधुर स्वाद चखा दिया। रोज़ी के मन में नन्दकुमार के व्यक्तित्व के लिये आदर-भाव प्रभावपूर्ण ढंग से जागरित हो उठा। लेकिन दो दिनों बाद जब जगरूप आया तो उसे यही शक़ हुआ कि नन्दकुमार का व्यवहार उसकी चहेती से ज़रूर बद रहा होगा। रोज़ को नन्दकुमार की तरफ़ अधिक आकर्षित देखकर भी वह इसी निर्णय पर पहुँचा। और घृणा और द्वेष और जलन से भर गया। दोपहर के खाने पर मिस रोज़ जगरूप की तरफ़ बिलकुल ध्यान न रख नन्दकुमार ही की मनुहार में लगी रही। इससे जगरूप की नाक-भौं बिगड़ने लगी—नन्दकुमार ने मार्क किया। फलतः जल्द-जल्द खाकर वह उठ गया और भोजन-घर बाहर चला गया।

"अजी सेठ साब !" मिस रोज़ ने नन्दकुमार को सुनाया, "आप चले कहाँ गये ? अभी खीर तो खाने ही को है...।"

"बाई, अब तो मैंने हाथ धो लिये—नो, थैंक्स !"

जगरूप ने ध्यान से मार्क किया कि मिस रोज़ की रुझान नन्दकुमार की तरफ़ तेज़ है। उसका मुँह सहसा सूज-जैसा गया। पर, वह बोल कुछ सका नहीं। लेकिन रात्रि-भोजन के बीच में जब मिस रोज़ ने बावर्ची को बुलाकर तुरन्त खीर पकाने का आर्डर दिया तब जगरूप के सहन की सीमा हो गयी। वह मुँह बिगाड़कर मेहमान मित्र की तरफ़ यों देखने लगा मानो खून करना चाहता हो। उसने देखा नन्दकुमार तेज़ी से खाना खा रहा था।

"अजी नन्दकुमार !" जगरूप ने रूक्ष-कंठ से सुनाया—"मैंने कहा आहिस्ता-आहिस्ता खाओ, नहीं तो खीर खाने से हाथ धोना पड़ेगा।"

खाना रोक हाथ धोने के लिये पानी भरा गिलास उठाता हुआ नन्दकुमार सतेज बोला—

"मुझे खाने से हाथ धोना अधिक पसंद है।"

ताबड़तोड़ भोजन करना बन्द कर पानी का गिलास उठाकर मिस रोज़ ने भी नन्दकुमार ही के लहजे में दोहराया—"मुझे भी खाने से हाथ धोना ज़्यादा पसन्द है।"

"मैं जानता था कि तू धोका देगी।" चिढ़कर जगरूप ने मिस रोज़ को सुनाया।

"धोकेबाज़ को हमेशा धोके ही के सपने आते हैं। मेरी-तेरी वफ़ादारी की सगाई है कबसे? मैं तेरी लुगाई नहीं, मिसिज़ नहीं, वाइफ़ नहीं। तू बम्भन बनारसी, मैं क्रिश्चियन। क्या समझता है तू खुद को? नन्दकुमार को तू क्या समझता है? वह जेन्टिलमैन है, तू मैन ही नहीं है। उसके सीने में गरम दिल है, जब कि तेरे सीने में पथरा है—पथरा, कड़ा, कोल्ड।"

इस दुर्घटना के बाद नन्दकुमार का जी जगरूप के वातावरण से बिलकुल 'उकट' गया। उस दिन वह नित्य-नियमानुसार मित्र के साथ

स्टूडियो नहीं गया। उलटे, दोनों के जाते ही, अपना सामान समेटकर एक-दूसरे दोस्त के यहाँ दादर में चला गया।

: २५ :

असिल में किसी फ़िल्म-कम्पनी में जाकर यह कहने की हिम्मत नन्दकुमार की नहीं होती थी कि वह भी स्टोरी लिख सकता है, टाइटिलें तैयार कर सकता है। वह अपने को इतना अनोखा-कलाकार समझता था कि चाहता था कि दुनिया ख़ुद होकर जाने कि वह कैसा कलाकार है। पर, दुनिया ऐसी लापरवाह कि नन्दकुमार जैसे बावनगण्डे गुणी इस में नगण्य बने ठोकरें खाते हैं। तलवे रगड़ते हैं पेट के लिये दर-दर। जगरूप ने नन्दकुमार का परिचय अपनी ओर से भले ही किसी फिल्म-बॉस से न कराया हो, पर उसके साथ स्टूडियो में नन्दकुमार को देखा बीसियों विशेष लोगों ने था। जगरूप के बँगले पर कइयों की तो उसने ख़ातिरदारियाँ की थीं। उन्हीं परिचयों के बल पर उसने भाग्य आज़माने की कोशिश की और पहले 'दलजीत फ़िल्म कं०' में पहुँचा जिसके डाइरेक्टर-मालिक और एक्ट्रेस-मालकिन को वह बख़ूबी जानता था। दलजीत कम्पनी उन दिनों की प्रसिद्ध फ़िल्म कम्पनियों में थी। एक्ट्रेस नाज़ बानू का बड़ा नाम था जिसके पीछे डाइरेक्टर भोगीलाल भी सरनाम था।

दलजीत कम्पनी के प्रतीक्षा-कक्ष में जब नन्दकुमार पहुँचा उस वक़्त तीन लेखक अपनी-अपनी कहानियाँ लिये हुए पहले ही उपस्थित थे। वक़्त काटने के लिये—क्योंकि डाइरेक्टर के आने में घंटे भर की देर थी—लेखक-गण बातें करने लगे।

"मैं तो एक सोशल फ़िल्म-स्टोरी लेकर आया हूँ। जनाब का सबजेक्ट...?"

"मेरी स्टोरी तो जनाब स्टंट-पिक्चर की है।"

"मैंने राजपूत पीरियड की, कास्ट्यूम पिक्चर की फ़िल्म-कहानी निहायत दिलचस्प तैयार की है। लेकिन जनाब की कहानी क्या है ?" उसने नन्दकुमार से पूछा।

"मेरी कहानी का नाम है 'तवायफ़ की ज़ात'।"

"तवायफ़ की ज़ात ?"

"तवायफ़ की ज़ात ?"

"मगर, कहानी में तवायफ़ की ज़ात को आपने क्या दरसाया है...?"

"कमीनी, कमज़ात।" नन्दकुमार ने सुनाया।

"हा हा हा हा !" दूसरे तीनों लेखक हँस पड़े। एक ने व्यंग्य से पूछा—

"जनाब जानते हैं कि दलजीत फ़िल्म कंपनी कैसे क़ायम हुई है ?"

"नहीं तो।" नन्दकुमार ने सुनाया, "दलजीत फ़िल्म कंपनी के क़ायम-नाक़ायम होने से मेरी स्टोरी का कोई भी सम्बन्ध नहीं है।"

"इस कंपनी को स्टोरी देना है तब तो सम्बन्ध होना ही होगा।"

"इस कंपनी की आधा भागीदार तवायफ़ है।"

"क्या ?" चकराकर नन्दकुमार ने पूछा।

"यह तो मशहूर बात है। आपको इतना भी पता नहीं ! डाइरेक्टर भोगीलाल एक फ़िल्म कंपनी की तरफ़ से किसी राजपूत राज में आउट-डोर शूटिंग करने गया था। वहाँ के राजा दलजीतसिंह की नज़र हीरोइन नाज़ बानू पर पड़ गयी थी। बीच में सौदा पटाया डाइरेक्टर भोगीलाल ने; नाज़ बानू की रज़ा से। साठ हज़ार कलदार पर नाज़-बानू सत्तर साल के बूढ़े राजा के साथ उसके इच्छानुसार रहने को

राज़ी हो गयी। उन्हीं रुपयों से, नाज़ बानू की साझीदारी में भोगीलाल न दलजीत फ़िल्म कपनी चलायी। तवायफ़ बुरी हो; पर, दलजीत-फिल्म कंपनी तो एक तवायफ़ का ही प्रसाद है।"

"मैं सलाह देता हूँ" एक लेखक ने नन्दकुमार से कहा "कि जनाब ऐसी स्टोरी डाइरेक्टर भोगीलाल को हर्गिज न सुनायें। क्योंकि नाज़ बानू बराबर भागीदार के साथ-ही-साथ रहती है।"

संयोग की बात। इसी वक़्त डाइरेक्टर और नाज़ बानू बाहर से आये। अपने दफ़्तर के आगे तीन-चार आदमियों को देखकर, सब के सलाम करने पर, वे ज़रा रुक गये।

"आप लोग स्टोरी लेकर आये हैं। हैं न ?" पूछा डाइरेक्टर ने।

"जी जनाब।" एक लेखक ने कहा।

"किस विषय पर आपकी स्टोरी है ?" उस व्यक्ति से भोगीलाल ने पूछा।

"मेरी तो जनाब स्टंट पिक्चर की स्टोरी है।"

"और आपकी ?"

"मेरी सोशल फ़िल्म क़ाबिल कहानी है।"

"आपकी ?"

"मैंने राजपूत इतिहास से स्टोरी बनायी है : कास्ट्यूम-पिक्चर।"

"और आपकी स्टोरी ?" अब भोगीलाल ने नन्दकुमार से पूछा— "आपको तो मैंने जगरूप भाई के यहाँ कई बार देखा है। जी ?"

"नन्दकुमार हिचका !"

"लगता है नाम आपके ख़याल से उतर गया" लीला से नाज़ बानू ने लेखक की ओर ताका—"आप ने सब्जेक्ट क्या लिया है ?"

"औरत का दिल मेरी कहानी का सब्जेक्ट है। टाइटिल है : तवायफ़ की ज़ात।"

"ट्रेजडी है या कामेडी...?" नाज़ बानू ने पुनः पूछा।

"रोतड़ा पिक्चर" भोगीलाल ने सुनाया "पब्लिक कम पसन्द करती है।"

"मेरी कहानी कहानी है, न ख़ासकर ट्रेजडी, न खासकर कामेडी। साथ ही, कमी किसी वस्तु की नहीं है।"

"अच्छा, आप हमारे साथ आइये।" नाज़ बानू ने नन्दकुमार से भद्रतापूर्वक कहा—"थोड़ा वक़्त तो होगा आपके पास?"

"बहुत..."

अब अन्य लेखकों की तरफ़ देख खेद-जैसा मुँह बनाकर भोगीलाल ने कहा—"अभी हमारे हाथ में कई कहानियाँ हैं, आप लोग अपना पता छोड़ते जायँ—आवश्यकता होते ही कंपनी आपको ज़रूर याद करेगी।"

नन्दकुमार और नाज़ बानू पहले ही अन्दर चले गए थे। जब डाइरेक्टर भोगीलाल भी चला गया तब शेष लेखकों का चेहरा ऐसा हो गया जैसे हाथ से तोते उड़ गये हों।"

"लक!" एक ने निराश सुनाया, बैड लक के अर्थ में।

"वह तगड़ा है—वही रायटर—देखने में भी माशा अल्ला खासा बाँका जवान है। कहानी पसन्द करनेवाली है औरत। नतीजा जो होना चाहिए था हुआ...।"

"क्या हुआ नतीजा?"

"हिन्द में मजमूँ न फैला और जूते चल गए!"

"खूब!"

"यह कैशियर क्यों अन्दर जा रहा है?"

"यही कैशियर है दलजीत फ़िल्म कंपनी का?"

"शायद 'तवायफ़ की ज़ात' का जादू चल गया।"

"तवायफ़ की फ़िल्म कम्पनी में और चलेगा क्या?" इसी समय कैशियर के साथ नन्दकुमार बाहर निकला और तुरन्त ही

ग्राफ़िस में घुस गया। थोड़ी देर बाद नोटों का मोटा-सा पुलिन्दा गिनता हुग्रा वह कैशियर के दफ़्तर से बाहर ग्राया। इसी समय दलजीत कंपनी के कार्य-कर्त्ता ने नन्दकुमार से कहा कि वह डाइरेक्टर साहब की मोटर से ग्रपने स्थान पर लौटे, जो बाहर खड़ी थी।

: २६ :

जगरूप में दुर्गुण चाहे जितने भी रहे हों; पर, तब के, बंबई के फ़िल्म-डाइरेक्टरों में उसका ख़ास स्थान था। वह स्वयं उत्तम-श्रेणी का कैरेक्टर-एक्टर था। सो, श्रेष्ठ-लेखक होने में नन्दकुमार के बारे में जगरूप के परिचित फ़िल्म-कम्पनियों के मालिकों के मन में कोई संदेह नहीं हुग्रा। उसने जो सवाक-पिक्चर की कहानी लिखकर दी थी उसमें उस समय के वातावरण के कहानी-पारखियों को प्रसन्न करने क़ाबिल काफ़ी शक्ति थी, मनोरंजकता थी, कथा-बल था, चुभती, चुस्त-भाषा थी। भोगीलाल ग्रौर नाज़ बानू के प्रसन्न होते ही दलजीत फ़िल्म कम्पनी का सारा स्टाफ़ एक बार लेखक नन्दकुमार की तरफ़ ग्राकर्षित हुग्रा। 'तवायफ़ की जात' दलजीत कं० वालों ने—कहानी-संवाद-गानों के साथ पच्चिस-सौ रुपये में ले ली, साथ ही, चार सौ रुपये मासिक पर रिहर्सलों में ग्रौर सेट पर भाषा-शुद्धि-निरीक्षक पद पर नन्दकुमार को नियुक्त भी किया। कहाँ काशी में खाने का ठिकाना नहीं, कहाँ फ़िल्म कं० में घुसते ही ढाई हज़ार नक़द ग्रौर ऊपर से चार सौ रुपये मासिक की नौकरी! नन्दकुमार, रातोंरात, गंगू तेली से राजा भोज बन गया। रुपये हाथ में ग्राते ही उसने पहले रहने की जगह की तलाश मालाबार पहाड़ पर की; फ़र्नीचर ग्रौर भड़कीले

कपड़े बनवाये फिर अपने घरवालों को भी पुष्कल रुपये भेजे। माला-बार हिल पर, तीन वत्ती के आगे, जगह मिलते ही उसे जगरूप और मिस रोज़ का ध्यान आया। भुक्तभोगी होने पर भी नन्दकुमार के हृदय में दोनों के लिये आदर था। एक दिन मित्रता से ललककर वह उसके स्थान पर गया भी। जाने पर जगरूप तो मिला नहीं, अलबत्ता मिस रोज़ अपनी टू-सीटर स्टूडीबेकर पर कहीं जाने को तैयार मिली—

"वेलकम मिस्टर!" प्रफुल्लित होकर उसने कहा, "साहब तो घर पर नहीं हैं।"

"पर आप तो मिल गयीं यही कम खुश-नसीबी...।"

"मैं जब मिसेज़ जगरूप की बात सोचती हूँ मिस्टर! जैसा मैंने सुना है वह औरत देवी है। उसको धोखा देकर यह हरामी गली-गली कुत्ते की तरह सूँघता फिरता है।"

"आपको जगरूप की पत्नी पर दया आयी—यह बहुत बड़ी बात है।"

"दया-मया मैं नहीं जानती मिस्टर! मेरा लालन-पालन दया-मया में नहीं हुआ है। पर, सीने में इन्सान का दिल तो है? यह अपनी औरत का नहीं हुआ—मेरा होता। किसी औरत का हुआ होता तो खुदा माफ़ करता।"

"आपने—लगता है—बीयर ली है। बीयर आपका दिलवर है।"

"मैंने बीयर ली है या नहीं ली है, पर, बनारसी ने भंग तो ज़रूर पी होगी। डाइरेक्टर क... डाइरेक्टर च... और यह जगरूप पहले तो भंग पीते हैं और फिर शराब और फिर बीयर। अपने दोस्त से मिलना हो, तो मोटर में आ जा—मैं स्टूडियो जा रही हूँ।"

नन्दकुमार परम प्रसन्नता से मिस रोज़ की छोटी मोटर गाड़ी में दाख़िल हो गया। गाड़ी चली—बग़ल में सुन्दरी चक्रपाणिनी मिस रोज़। नन्दकुमार के मन में नमकीन-भावों की भरमार होने

लगी। लेकिन स्टूडियो में पहुँचते ही जगरूप ने उसके सारे उत्साह पर—मारे राग-द्वेष के—पानी फेर दिया।

जगरूप को नन्दकुमार ने खुशी से सुनाया—मुझे दलजीत फ़िल्म कं० में रिहर्सल में काम मिल गया है। साथ ही—तुम्हें पता है कि नहीं?—मेरा वह फ़िल्म नाटक ले लिया गया जिसके बारे में तुम्हारी बड़ी 'पूअर' राय थी।"

"नाटक ही नहीं फ़िल्म-लाइन में तुम-जैसे लेखक के भविष्य के बारे में भी मुझे तो संदेह ही है। मुझे डर है कहीं फ़िल्म-कम्पनी में तुम मार न खा जाओ। क्योंकि बोलने तक की तमीज़ तो तुमको है नहीं।"

जगरूप ने जब नन्दकुमार की फ़िल्म-लाइन में कोई मदद नहीं की तब वह उससे निराश नहीं हुआ था। बाज़ारू से भी बदतर नारी को लेकर जब संदेह किया तब भी उसने उसे आदमीयत की लिमिट में ही माना था; लेकिन अपने प्रयत्न से काम पाने पर भी जब बनारसी-मित्र मित्र के प्रति सहज न हो सका तब नन्दकुमार के मन में घोर निराशा हुई जगरूप के भविष्य के लिये—"जगरूप सुरा-सुन्दरी के चक्कर में पागल तो नहीं हो गया? प्राण तो नहीं देगा? औरों का रस लूटने के मोह में स्वयं नीरस, अनुदार, संकुचित हुआ जा रहा है।" नन्दकुमार ने भविष्य में ऐसे दोस्त से दूर ही रहने का निश्चय 'अस कुमित्र परिहरे भलाई'-मन्त्र के अनुसार किया। जगरूप का विचार अलग रख, बुद्धिमानी से, वह अपने धन्धों में लगा। उसे फ़िल्म-कम्पनी का वातावरण बहुत ही नूतन लगा और रमणीय। यद्यपि बनारस के दैनिक अखबार 'आज' में बंबई की फ़िल्म-कम्पनियों के बारे में उस समय उसका जो वर्णन प्रकाशित हुआ था उसमें कोई दूसरा ही रंग दर्शित था। "ये फ़िल्म-कम्पनियाँ" शीर्षक लेख में उसने लिखा था—

"जैसे सारी हाँडी के भात का अन्दाज़ एक चावल से लगाया जाता है; वैसे ही, महज़ एक फ़िल्म-कम्पनी का वर्णन पढ़कर 'आज' के पाठक अन्दाज़ लगा लें कि ज़ियादातर फ़िल्म-कम्पनियाँ कैसे वातावरण में फूलने-फलने जा रही हैं। यहाँ एक 'देवा' फ़िल्म-कम्पनी है जिसके मालिक हैं सेठ भूलाभाई। भूलाभाई होंगे ३५-४० वर्ष के, सूट-बूट-धारी, छरहरे, लम्बे, चेन सिगरेट-स्मोकर, बहु-वनिता विलासी। उनके गार्जियनों ने जब यह महसूस किया कि यह आदमी बुजुर्गों की गाढ़ी कमायी की सारी दौलत चुटकियों में उड़ा देगा तब उनके लिये लाख-दो-लाख रुपये अलग कर, मैशीनें मँगा, स्टूडियो खड़ी कर, 'देवा' फ़िल्म-कम्पनी क़ायम कर दी। साथ ही, दो-चार खेलाड़ी-धूर्त्त ऐसे साथ लगा दिये जो भूलाभाई को उसी धन्धे में भुलाये रखें। 'देवा' फ़िल्म-कम्पनी ज़ियादातर देवताओं के नाटक चित्रित करने लगी। और वह लोक-प्रिय हो गयी। उसकी फ़िल्मों की माँग चारों तरफ़। रुपये बरसने-से लगे। सेठ भूलाभाई ने सोचा यह सब उनकी उस प्रतिभा का फल है जो शराब और सुन्दरियों के संसर्ग से सिद्ध होती है। फलतः 'देवा' फ़िल्म-कम्पनी दिन-दहाड़े व्यभिचारों का अड्डा-जैसी बन गयी। मालिक दफ़्तर में बैठकर दारू पीता है, डाइरेक्टर सेट पर, एक्टर निकट की होटलों या स्टूडियो के किसी एकान्त प्रान्त में। डाइरेक्टर सेठ का मुँहलगा है इसलिये कि उन्हीं की जात का है और समाज की लड़कियों को भुलावा देकर भूलाभाई की अंक-शायिनी बेसंकोच बनाने का आदी है। कम्पनी में तस्वीरें बनती हैं देवताओं की लेकिन दानवीय दुष्कर्म होते हैं दिन-दहाड़े। औरतें—दो-ढाई दर्जन तो बिलकुल वेश्या बाज़ार की कुटनियों या दल्लालाओं द्वारा सप्लाई की हुई हैं, जिनका काम है सारे दिन स्टूडियो के कामकाजियों में काम-कामना कुलबुलाना। कम्पनी में अधिकारवाले जो कमानेवाले हैं उन्हें दारू पीते ही इच्छित बोसे स्टूडियो के कोने-कोने में मिलते

हैं। कुर्सी पर बैठते ही—मौक़े-बे-मौक़े सुन्दरियाँ घेरा डाल देती हैं—दाएँ-बाएँ, आगे-पीछे। चहकती आवाज़ें, महकती ज़ुल्फें, (लाल रंग से कोयले की तरह) दहकते अधर, बर्छी की नोक की तरह किसी कंचुकी के बाहर निकल दर्शक के मनों में खुभने को उत्सुक उरोज—यानी उन बाज़रूओं के सीने। 'देवा' फ़िल्म-कम्पनी में ऐसा एक भी पाख़ाना न होगा जिसको एकाधिक बार मदहोशों का भोग-भवन बनने का भाग्य भरपूर न मिला हो। एक्टरों-डाइरेक्टरों की आपसी बातचीत के विषय चन्द, चुने—दूसरे एक्टर-डाइरेक्टर की निन्दा और स्वयं की स्तुति। औरतों की चर्चा घूम-फिरकर हर एक की ज़ुबान पर। एक्ट्रेस बनने के इरादे से कोई नयी नवेली आयी नहीं कि यारों ने आँखों-ही-आँखों उसे भक्षना शुरू कर दिया। इन एक्टरों की नज़रों से वेश्याएँ शर्मा जाती हैं, जिनकी आज तो बहुतायत है लेकिन कल जब पढ़ी-लिखी तरुणियाँ आयेंगी तब क्या होगा इस लाइन में यह आज ही से विचारणीय विषय होना चाहिये। सौ-में-निन्नानवे एक्टर-एक्ट्रेस—'इज़ी मनी' या पानी की तरह रुपये कमाने के बाद या तो जुआ खेलते हैं या इश्कबाज़ी की सोचते हैं अथवा चौबीस घण्टे शराबी अगड़धत्त बने रहते हैं।

"इस सबसे कोई यह न समझे कि फ़िल्म-कंपनियों के वातावरण में मधु-ही-मधु, जन्नत-ही-जन्नत है। 'देवा' फ़िल्म-कंपनी के मालिक दो ही बरस की तरक़्क़ी के बाद इस वक़्त तनज़्ज़ुली में हैं। दल-जीत कंपनी के सामाजिक-चित्रों के आगे जनता ने 'देवा' फ़िल्म-कंपनी के ढपोरशंखी पिक्चरों को बिलकुल कंडम कर दिया है। पिछले कई महीने से कंपनी वाले, क़र्ज़ पर धन्धा चला रहे हैं। सेठ भूलाभाई अभी भी, वैसे ही, दिन-रात नशे में रहते हैं। पर, गज-भुक्त-कपित्थ की तरह सूरत-शक्ल सही-सलामत होने पर भी उनके भीतर कोई सार या स्नेह या रस या रक्त नज़र नहीं आता। भूलाभाई के चिन्तित-हित-

चिन्तकों ने उन्हें धन्धे से अलग कर 'देवा' फ़िल्म-कंपनी की व्यवस्था बिलकुल बदल दी है। भूलाभाई के निकट अब राग नहीं, रंग नहीं। न भड़वे, न रंडियाँ। हतभाग्य बीमार पड़ा हुआ है।

"धन मुझे भी यहाँ बा-आराम ही और पुष्कल मिल रहा है। पाँव भोग-विलास की दिशा में मेरे भी उठने को आतुर हैं। स्पष्ट में भोगता नहीं; पर भड़कीले-भोगों का प्रत्यक्ष-दर्शी उनसे अलग कहाँ तक रह सकता है यह मैं बखूबी जानता हूँ। जिन वस्तुओं के ध्यान-मात्र से ज्ञानियों का भी तप-भंग हो जाता है उनके बीच में रहता हुआ सोचूँ कि मैं योगी हूँ—ऐसा पाखंडी कोई और हो नन्दकुमार कदापि नहीं। हिन्दी-साहित्य लिखता था तो धन नहीं मिलता था लेकिन अपना भी कुछ महत्व था। इस फ़िल्म-लाइन में तो धन का अथवा सुबरन—तन का—यौवन का महत्व है। चल-चित्र-संसार ! क्षणभंगुरता का महत्व सर्वत्र। युगान्त-व्यापी लेखक को कौन पूछे ? सो फ़िल्म-लाइन में आत्मावान लेखक का मान नहीं ज़वान छोकरी भले ही जानदार हो। मतलब यह कि धन में भोग-विलास-सुपास हो, पर, हृदय नहीं होता। पर, ग़रीबी में धन न हो, हृदय तो लबालब होता है। लेखक का खून बढ़ता है हृदय के स्वच्छ (न्द) विस्तार से। सो, मेरे लेखक को फ़िल्म-लाइन का धन चैलेंज-सा देता मिला करता है और सरासर अन्देशा है किसी दिन ठन जाने का। लेकिन फ़िलहाल तो आराम से गुज़र रही है और खूब।"

'आज' से गुजराती दैनिक बंबई समाचार में उद्धृत होकर नन्दकुमार का लेख जब तत्कालीन फ़िल्म-सेठों की नज़र में आया तो अपने धन्धे का यह भीषण भंडाफोड़ उन्हें सुहाया नहीं। दूसरी कंपनियों के मालिकों ने मालिकों की मीटिंग में दलजीत कंपनी के मालिकों से पूछा कि क्या उक्त लेख उनकी कंपनी में काम करनेवाले मुन्शी ने उनकी जानकारी में छपवाया है ? नन्दकुमार का वह लेख भोगीलाल और नाज़ बानू को

भी अच्छा नहीं लगा, पर, दूसरे फिल्म-मालिकों से उन्होंने यही कहा कि स्टूडियो का काम ठीक-ठीक करने के बाद नन्दकुमार और क्या करता है उससे उनकी कोई खास दिलचस्पी नहीं।

इसी बीच में एक दिन नौ बजे रात तक शूटिंग चलने के बाद कार्य समाप्ति पर वह मालाबार हिल लौटने ही वाला था कि नाज़ बानू ने उससे कहा—

"आपको रायल मूवीटोन वालों ने इसी वक्त याद किया है। उनका कोई बहुत जरूरी काम है। आपको कोई दिक़्क़त तो नहीं होगी? मेरी मोटर से चले जायँ।"

रायल मूवीटोन का मालिक सेठ भड़ूचा नन्दकुमार को गेट ही पर मिल गया।

"मुझे आपसे एक कहानी डिसकस करनी है।" भड़ूचा सेठ ने नन्दकुमार से कहा—"लेकिन डेढ़ घंटे बाद मैं खाली हो पाऊँगा। भोगपुर के महाराज की पार्टी चल रही है। आपका भी स्वागत है! आइये अन्दर।"

अन्दर ले जाकर भड़ूचा सेठ ने नन्दकुमार को एक स्थान पर बैठाया। सचमुच पार्टी चल रही थी। कोई दो दर्जन पुरुष साफ़ सजी टेबुलों पर शराब पी रहे थे। रेडियो मन्द-मन्द बज रहा था। लोग नशे में हो चुके थे यानी बातों में तेज़ी आ गयी थी। नन्दकुमार के निकट आकर भड़ूचा सेठ ने पूछा—

"शराब तो पंडित लोग शायद न लेते हों? आपके लिये काफ़ी, ओवलटीन...?"

"नहीं—मैं भी शराब लूँगा।" नन्दकुमार ने सहज भाव से सुनाया तो भड़ूचा को प्रसन्न-आश्चर्य जैसा हुआ—"शराब सामने हो तो मैं पण्डित नहीं केवल आदमी रह जाता हूँ।"

"क्या बात कही है!" भड़ूचा सेठ ने खुद ही गिलास में बर्फ़ और

विस्की का बोतल नन्दकुमार के सामने सत्कार से ला रखा—"विस्की, ब्रैण्डी, पोर्ट, जिन, रम—सभी शराबें यहाँ हैं—आप क्या फ़रमाते हैं ?"

"जो जनाब के हाथ में है : विस्की। ज़रा ठहरें। मैं बर्फ़ गिलास से निकाल दूँ—य:।"

एक डबल पेग डालकर भड़ूचा रुकने लगा तो नन्दकुमार ने ललकारा—"बर्फ़ मैंने इसलिये निकाल फेंकी है कि गिलास और शराब के बीच में कोई दूसरी चीज़ रहे नहीं।"

भड़ूचा समझ गया इशारा। विस्की का बाटल उसके गिलास में उडेलता हुआ उसने सुनाया—"पंडित इतनी पी सकता है—मैं सोच भी नहीं सकता था।"

"जो सोचा भी न जा सके वही काम जो कर जाय वही पंडित। पंडित लोग जब पीते हैं तब यों ही पीते हैं—'नीट'। सोडा नहीं, बर्फ़ नहीं।" इसके बाद भड़ूचा सेठ राजा भोगपुर की खुशामद में लगा और जब तक पार्टी चलती रही फिर पंडित (लेखक नन्दकुमार) को पूछा तक नहीं। सभी नशे के आलम में हो गये थे लेकिन, फिर भी, दौर चल ही रहे थे। इसी समय हाथ में आधा गिलास शराब लिये, आधी झूमती एक युवती साड़ी पहने आती हुई नज़र आयी। युवती सुन्दरी थी, मदिरा ने उसे और भी मोहक बना रक्खा था। मदिरा ने ही उस समय पियक्कड़ों के मनों में युवती-स्त्री के लिये महामोह भर रखा था। सुन्दरी को देखते ही भोगपुर का राजा और सब-के-सब उसकी तरफ़ आकर्षित हुए, साथ ही, भड़ूचा सेठ ने भी उसकी तरफ़ साश्चर्य देखा—

"अरे यह साली यहाँ कैसे चली आयी ?" भड़ूचा बढ़ा युवती की ओर—"अरी चम्पा !"

"हा, हा, हा, हा" गिलास उठा चटाघट पीकर चंपा ने एक तरफ़ फेंक दिया। इसके बाद सर से साड़ी उतार वह सबके सामने ब्लाउज़

उतारने लगी, उतारकर रख दी उसने! और फिर साड़ी उतारने लगी। नन्दकुमार भी नशे में था, उसने समझा युवती नशे में अपने-आपेके बाहर हुई जा रही है। झट उठकर वह चम्पा की तरफ़ बढ़ा—"आप होश में नहीं हैं। चलिये अन्दर।" उसने कहा। तब तक भड़ूचा सेठ नन्दकुमार के निकट लपका आया और उसके कान में बोला—"होश में आप तो हैं....? मिहरबानी कर अपनी जगह बैठिये—उसके फेर में न पड़िये।" भड़ूचा ने नन्दकुमार को उसकी कुर्सी पर बैठा कर ऐसा दबोचा कि वह वहीं गड़ा रहे, बेजुम्बिश बैठा रहे। तबतक चम्पा ने साड़ी उतार फेंकी थी और गाते-गाते उसने नंग-नाचना शुरू कर दिया था।

मोरे राजा किवरियाँ खोल !
रस की बूँदें पड़ें।
बाला जोबनवाँ भिजै मोरे प्यारे !
अब न मोसे मुँह मोड़ !
रस की बूँदें पड़ें।

नन्दकुमार ने देखा वैसा कभी सपने में भी उसने नहीं देखा था। एक तूफ़ान-सा मजलिस में बर्पा हो गया। हरेक शराबी की इच्छा उस युवती के लिये साफ़ बद। राजा भोगपुर तक की। राजा ने उठकर भड़ूचा को एक ओर बुलाकर कहा—"अब पार्टी बस। और इस औरत को मेरी मोटर में पहुँचाओ।"

"मगर, हुज़ूर! भड़ूचा ने हाथ जोड़कर राजा से कहा—"चम्पा बाज़ारू नहीं, एक्ट्रेस भी नहीं, वह मेरे एक क़जिन की लड़की है। पीने के बाद यों ही पागल हो जाया करती है।"

"मैं कहता हूँ इस वक़्त बिना बहस इसे मेरी मोटर में पहुँचाओ...।"

"मुझे फाँसी लग जायगी...?" भड़ूचा गिड़गिड़ाया।

"सारी रियासत का ज़ोर लगाकर तुम्हारी रक्षा की जायगी—।"

तुरन्त ही भोगपुर का राजा स्टूडियो के बाहर खड़ी अपनी मोटर में पहुँचा। तुरन्त ही चम्पा, उसी हालत में, मोटर में पहुँचायी गयी। इस घटना के एक ही सप्ताह बाद बंबई के पत्रों में समाचार छपा कि भोगपुर के राजा ने चम्पा नाम की किसी बंबैया युवती को विवाह-पाश में बाँध लिया है।

राजा और चम्पा के जाने के बाद भड़ूचा नन्दकुमार की तरफ़ मुख़ातिब हुआ—"माफ़ करना पंडत ! तुम्हें स्मार्ट होना चाहिये था। फ़िल्मवाले राजा-रईसों को कैसे आकर्षित करते हैं, सोचना चाहिये था। पता है आपको उस लड़की की वजह से रॉयल फ़िल्म-कंपनी को क्या मिलेगा ? दो लाख रुपये क़र्ज़। और क़र्ज़ भी ऐसा कि लेता मरे कि देता मरे, पर अदा हर्गिज़ न हो। आइये अब कहानी डिसकस करें।"

"मगर, भड़ूचा सेठ !" नन्दकुमार ने सीरियसली सुनाया—"मैंने यह तय किया है मैं ऐसी संस्था से संबन्ध नहीं करूँगा, जो ऐसी कुनीति—क्या पब्लिक प्रास्टिट्यूशन से पैसे बटोरती हो।"

"क्या ?" ज़रा तनकर भड़ूचा ने पूछा।

"जी...!" नन्दकुमार अपनी जगह जैसे दृढ़ जमा ही रहा।

"आप मुझसे स्टोरी डिसकस नहीं करेंगे ?"

"खेद है...।"

"पंडित—पाँच हज़ार रुपये का काम है। सोच लीजिये।"

"लाख रुपये का काम हो; पर, सही धन्धे से नहीं, जो पार्टी इस तरह पाप से रुपये कमाती हो, उससे मेरी शिरकत हो ही नहीं सकती।"

"यह बिज़नेस मैन लाइक नहीं है।"

"मैं बिज़नेसमैन नहीं हूँ।"

"देन गो टू हेल ! पठान ! इस आदमी को फाटक बाहर करो।"

"धन्यवाद ! जो आदमी इस नंगपन से रुपये कमाना पसन्द कर सकता है—वह जलालत की किसी भी सीमा को टच कर सकता है।"

"पठान ! पठान !"

पठान ने आकर देखा पंडित उससे बीस ही नहीं पच्चीस था। और वह देखता ही रहा। नन्दकुमार नशे में होने पर भी अकंपित, गंभीर पगों से स्टूडियो बाहर निकल गया। वहाँ से मालाबार हिल बहुत दूर नहीं था। टहलता-ही-टहलता वह फ़्लैट तक पहुँच गया।

कपड़े उतारकर वह बिस्तर पर लेट रहा, और नशे में भी चिन्तामग्न हो गया। असल में चम्पा-काण्ड के बाद नन्दकुमार का नशा ही उखड़ गया था। उसे लगा कि फ़िल्म-कंपनी वह जगह नहीं जहाँ उसकी प्रतिभा पुष्टि पा सके। यह लाइन तो पकड़ते ही छोड़नी पड़ेगी। पकड़ते ही छोड़नी पड़ेगी फ़िल्म-लाइन ? नन्दकुमार के दुनियादार मन ने प्रश्न-जैसा किया। फिर मन ही ने मन को उत्तर भी दिया, "हिन्दी-जगत् छोड़ा—, फ़िल्मी-दुनिया में आये। अब फ़िल्मी-दुनिया छोड़कर पुनः हिन्दी लिखने जाना—भद्दी कहावत है वह—खसम किया : बुरा किया; करके छोड़ दिया : और भी बुरा किया। फिर, हिन्दी-संसार में ४००) कलदार हर महीने मुयस्सर किसको है ? सौ रुपये मासिक भी स्वतन्त्र-हिन्दी-लेखक को घर-बैठे असंभव है और असंभव ही रहेगा अभी पचीस वर्षों तक।

"लेकिन लिखना हृदय से होता है" नन्दकुमार के सुमन ने पुनः तर्क किया अपने आप "और फ़िल्म-लाइन में हैं हृदय पर हज़ार बोझ। रुपये का बोझ, रूप का बोझ और रुपया-रूप से पैदा होनेवाली अनन्त हृदय-हीन परिस्थितियों का बोझ। इन बोझों से कलाकार का दम घुटता है, व्यक्तित्व दम तोड़ने लगता है। ऐसा सोना किस काम का जिसके लिये कान छिदें। कलाकार ही मर जायगा तो रुपया—चार सौ नहीं लाख भी—मिल कर होगा क्या ? फ़िल्म-लाइन से पैसे-

रुपये-रूप के लिये समझौता करना सुलझे लेखक का देश-द्रोह, समाज-द्रोह नहीं तो क्या है ?

: २७ :

महादेवी, प्रेमा तथा एक बनारसी-नौकर को साथ लिये बोरीबन्दर स्टेशन से टैक्सी लेकर सीधे इलाविला, सान्ताक्रूज पहुँची। अपने आने की सूचना उसने जगरूप को नहीं दी थी। संयोग की बात उस समय मिस रोज़ बँगले पर नहीं थी। वह आउटडोर शूटिंग के सिलसिले में बंबई बाहर गयी हुई थी। इससे जगरूप को अपने घरवालों के लिये मालाबार हिल पर ताबड़तोड़ एक फ़्लैट खोज लेने का चित-चाहा-चान्स मिल गया। मिस रोज़ पर जी-जान से फ़िदा होने पर भी वह नहीं चाहता था कि उसकी श्रद्धेया माई और पाणि-ग्रहीता-पत्नी मिस रोज-जैसी अज्ञात-कुलशीला औरत के साथ एक ही स्थान पर रहें। उसके इस प्रस्ताव में परिवार के प्रति प्रेम था; आशा की झलक थी; अत: महादेवी ने अलग रहना मंजूर कर लिया। यह सोचकर कि धीरे-धीरे अपने लाल को वेश्या के जाल से निकाल अपने हृदय के निकट आकर्षित करने में वह ज़रूर सफल हो जायगी। बस एक दिन महादेवी वगैरह सान्ताक्रूज़ रहे; जगरूप एक ही दिन मालाबार वाले फ़्लैट में परिवार के निकट रहा। दोनों दिन प्रेमा पति की सेवाएँ करने के बावजूद सोई महादेवी ही के पास। जगरूप उससे खिचा-ही-खिचा रहा। पर दो ही दिनों में जगरूप को अपनों के शुद्ध-प्रेम और आशीर्वाद का विचित्र स्वाद मिला—पोषक और तोषक। प्रिय-परिवारी उसे अच्छे-जैसे लगे बाज़ारी-झखमारी की तुलना में। ऐसी मीठी नींद बरसों

से नसीब नहीं हुई थी महादेवी के आगमन के बाद जैसी जगरूप को हुई। एक-रात तो उसे विचित्र सपना आया जिसे सुखद माने या दुखद वह निर्णय न कर पाया। सपने में उसने घूँघट काढ़े एक औरत को अदभुत-कला से नाचते देखा। उस औरत का अंग-प्रत्यंग फ़िल्म-डाइरेक्टर के चश्मों से उसने ध्यान-पूर्वक देखा—कैसी अद्वितीय नृत्यांगना—पर, घूँघट के सबब रूप छिपा हुआ था। जगरूप ने आतुर-भाव से आगे बढ़ नाचनेवाली का कर पकड़ बलपूर्वक घूँघट हटाकर देखा तो—अरे! वह तो उसीकी धर्म-पत्नी थी—प्रेमा। "लो तुम कहते थे मुझे नाचना नहीं आता—देखो तो! तुम्हारे लिये मैं क्या नहीं कर सकती।" सपने ही में जगरूप के रोमांच हो आया। भुजाएँ पसारकर उसने पत्नी को हृदय के निकट खींचने की कोशिश की कि बीच में मिस रोज़ नजर आयी—भयानक-मुखी, रक्त-विलोचना। उसके हाथ में कटार थी—जगरूप के सीने की तरफ़ नोक। वह कर्कश बोल रही थी—"क्यों बे-साले! यह राँड़ कौन है? मुझसे वफ़ा का अहद बाँधने के बाद—यह दग़ाबाज़ी! हरामी! मैं तेरी जान लेकर रहूँगी।"

उसका सपना टूटा मोटर के हार्न की तीव्र-आवाज़ से। सवेरे ही कौन आया? फ़िल्म-कंपनी के मालिक ने तो नहीं बुला भेजा है। लेकिन तिमंजिले से नीचे झाँककर देखने पर नजर आयी मिस रोज़—तरेरकर उसकी तरफ़ ताकती हुई जैसे चूहे की तरफ़ क्रोध-भरी बिल्ली देखे। उन्हीं कपड़ों में, उसी तरह, वह नीचे उतर आया—

"तुम ऊपर चलो!" उसने मिस रोज़ से कहा—"मेरी बड़ी माँ आयी हुई हैं।"

"तेरी बड़ी माँ मुबारिक हो तुझे ही" नाक सिकोड़कर, रोज़ ने सुनाया—"मेरी माँ नहीं, कि बड़ी माँ नहीं? मैं तो यह कहने आयी थी कि जैसे बिना मुझे नोटिस दिये तूने अपनी घरवाली को बुला लिया है,

वैसेही, बिना नोटिस दिये और आज ही मैं उसे कर लूँगी···।"

"क्या बकती है...? किसे कर लेगी ?" व्यग्र-भाव से जगरूप ने बिगड़कर पूछा।

"जिसे मेरा जी करेगा...।"

"क्या? जी की बच्ची—!" उसकी आँखों में हैरानी थी कि रोज़ी हाथ से निकल तो न जायगी। रोज़ ने ताड़ा जगरूप की आँखों के अन्दर का दिल। उसे विश्वास हो गया कि शिकार उसीका है और उसीका रहेगा। झपाक से मोटर में बैठ, मशीन चैतन्य कर गाड़ी अगाडी सरकाती हुई नख़रे से उसने अर्ध-स्वर में गाते हुए जगरूप को सुनाया—

"दिल एकी से लागा, हज़ारों खड़े।"

उसने गाड़ी ज़रा तेज की। क़रीब था कि दूसरे धक्के में वह जगरूप की आँखों से ओझल हो जाती कि वह फ़िल्म-एक्टर की स्टंटवाली स्फूर्ति से उछलकर, पैडिल पर पग जमा, चलती गाड़ी के द्वार खोल कर अन्दर घुस गया। तिमंजले की अगासी से महादेवी और प्रेमा ने जगरूप का वह दुस्साहस व्यग्र-भाव से देखा। इस एक ही घटना को दोनों दुखी देवियों ने दो दृष्टियों से देखा। महादेवी को ख़ुशी हुई यह भाँपकर कि जिस स्त्री के पीछे उसका भैया भागा गया है प्रेमा उससे अधिक सुन्दरी है—अतुलनीय। कहाँ रानी, कहाँ कौआ-हँकनी। महादेवी ने सोचा "जो पुरुष उस औरत पर आसक्त हो सकता है जरूर एक-न-एक दिन वह प्रेमा-जैसी सुशीला को सही-सही पहचानेगा। कोई छोटी जात नहीं; मेरा भैया कुलीन और कुलीनता की क़द्र करने वाला है।" लेकिन प्रेमा नीचे का नजारा देखकर इस बात पर विशेष खिन्न हुई कि वह औरत मोटर चला रही थी—"तो ?" उसने सोचा "नाचनेवाली नहीं, मोटर चलानेवाली को वे पसन्द करते हैं ? नाचना तो जैसे-तैसे मैंने सीख भी लिया; पर, मोटर भला मैं इस जन्म में चला पाऊँगी ? हे राम ! कैसा कठोर...विवश यह नारी-जीवन !

वह प्रबल पुरुष हैं कि चलती मोटर में, जान पर खेल कर चढ़ गये। क्या मैं इस तिमंजिले के नीचे इसलिये नहीं कूद सकती कि मैं अबला हूँ ?—स्त्री हूँ ?" उसने नीचे की तरफ़ झाँका—ओह ! निश्चित-मृत्यु ! निश्चित-मृत्यु के गाल में छलांग कहीं कोई मारता है ? उसने नीचे से हटा पीछे के कमरे की तरफ़ आँखें कीं—इस आशा में कि शायद इस दिशा में जीवन नज़र आये। किस दिशा में ? प्रिय-परिवार में ? परिवार परन्तु रहा ही कहाँ जब प्रिय न रहे ? वह जगरूप को अपनी ओर मोड़ सकेगी इसकी आशा अब उसे ज़रा भी न रही। उसका चेहरा ऐसा रक्त-रहित हो गया जैसे जज द्वारा प्राण-दण्ड का निर्णय सुनने पर फाँसी के दण्ड-पात्र का हो। महादेवी का पार्श्व पकड़ न लेती तो प्रेमा लड़-खड़ाकर धरती पर गिर पड़ती। उस वृद्धा के बल पर वह बेचारी बेहोश हो गयी !

: २८ :

पिछली सीट की तरफ़ वह दाखिल हुआ था, अगली सीट पर वह मोटर ड्राइव कर रही थी—असावधान सावधानी से, ब्लफ़ से जगरूप को डराती हुई एसक्डिन्ट की संभावना से।

"बैठा रहता है तो पीछे ही बैठा रह ! आगे की तरफ़ बढ़ा नहीं कि मैंने मोटर उलटी नहीं।"

"मोटर उलटेगी तो आप मरेंगी।"

"मार कर मरूँगी—ए मिस्टर"

"ए मिस्टरी !"

"तेरी माँ मिस्टरी...।"

"खोपड़ी में भेजा तो है नहीं कि बात समझे ! फ़क़त गाल, फ़क़त गाल ! मिस्टरी गाली है कि तू नाचने लगी ?"

"मिस्टर गाली है ?"

"मैं कहता हूँ मर्द की नजर में हर औरत मिस्टरी है। मेरी माँ भी भी, तू भी ! माँ मिस्टरी होगी मेरे बाप की नज़रों में; तू मिस्टरी है मेरी नज़रों में। ज़रा गाड़ी रोक, पैसे निकाल। आगे इम्प्रेस बार है ! मैं दारू पीऊँगा।"

"इतने सवेरे वहाँ दारू लिये तेरा बाप बैठा है ?"

"तू अपना बटुवा तो मुझे दे। मेरा बाप नहीं तो तेरी माँ वहाँ बैठी होगी—तू गाड़ी रोक देना—शराब पा जाना मेरा काम है।"

जगरूप आगे झुककर मिस रोज के आसपास उसका बैग देखने लगा। बायीं तरफ़ से बैग उठाते हुए उसने मोटर-चक्र-धारिणी महा-माया का बायाँ गाल धीरे से चूम लिया। क्या इससे मिस रोज सिहरी या प्रेम-पुलकित हुई ? कौन जाने ऐसी औरत के दिल की बात, पर, चुंबन के बाद ही उसने जगरूप की तरफ़ उसी तरह देखा जैसे कोई मालकिन मुँह-लगे, बे-कहे कुत्ते की तरफ़ देखे। उस दृष्टि में स्वीकृति नहीं, अस्वीकृति नहीं—हैरान—उपेक्षा थी।

"लो ! तुमने देखा नहीं ट्रैफ़िक पुलीसवाला कुछ नोट कर रहा था—हमारी गाड़ी की तरफ़ देखकर। तुम खुद तो फँसोगी ही, साथ ही मुझे भी फँसाओगी—गाड़ी रोको !"

एक तरफ़ उसने गाड़ी खड़ी की। जगरूप जल्दी से उतरा और सामने की तरफ़ लपका। "लेकिन पुलीसवाला तो पीछे छूट गया होगा यह सामने कहाँ जा रहा है ?" मिस रोज़ ने हैरानी से बाहर झाँक कर देखा तो गाड़ी इम्प्रेस-बार के सामने खड़ी थी। जगरूप के सबब दमा खराब रहने से राह समझे बिना ही वह मोटर चला रही थी।

उसे स्वयं पर बड़ी खुनस हुई। तबतक होटल का ब्वाय ट्रे में एक डबल पेग लाया—

"यह क्या है ?" मिस रोज़ ने पूछा, "अभी नौ भी नहीं बजे और तुमने शैतान-खाना चालू कर दिया ? तुम्हें पुलीस का, कानून का, किसी का डर नहीं ? खुदा तुम्हरा बेड़ा ग़र्क़ करे !"

मुँह से होटलवाले की भर्त्सना करती हुई भी रोज़ ने हाथ से जाम उठा लबों से लगा ही लिया। अब जो मोटर सान्ताक्रूज़ की तरफ़ बढ़ी, तो जगरूप पीछे नहीं आगे की सीट पर था। रोज़ की बगल में।

"तूने समझा ?" जगरूप ने शुरू किया "शराब मैंने अभी पी क्यों है ?"

"तू ही बता। तूने समझा कि मैंने अभी दारू क्यों पी है ?" प्रायः जगरूप ही के शब्दों में मिस रोज़ ने भी पूछा।

"मैंने इसलिये शराब पी है कि आज बँगले पर पहुँच ते ही मैं तेरी जान ले लूँगा।"

"ऐ मिस्टर !" नागिनी-सी गर्दन मोड़ कर फूत्कार-स्वर में उसने सुनाया, "किसी धोके में न रहना। मैंने भी इसीलिये दारू पी है कि आज मैं उस मर्दुए को मरा ही देखूँगी जो मेरा खून भरपेट पीने के बाद अब सरदर्द बन रहा है।"

"चिड़िया-सी तो तेरी जान है...।"

"ऐसी चिड़िया जिसकी जान तो दूर क़दमों की धूल तक तुझे आँख लगाने को भी नसीब न हो। ले, आ गया बँगला। चल अन्दर और उठा हाथ चिड़िये की तरफ़ और फिर देख अपना काल।"

"मैं कहे देता हूँ—फिर रोयेगी, गर्दन धरकर मरोड़ दूँगा। भले फाँसी हो जाय।"

"फाँसी पानेवाले शहीद-जैसी नहीं, तेरी सूरत-सीरत तो ४२० की तरह है। तू बँगले के अन्दर तो चल; फिर तुझे पता चलेगा कि

मिस रोज़ की पंखरियों में कैसे काँटे हो सकते हैं—चल अन्दर !"

बँगले में पहले जगरूप ही पहुँचा। घर पहले ही से खुला हुआ देखकर उसे आश्चर्य हुआ। लेकिन ड्राइंग रूम में उसने जो कुछ देखा उससे तो जगरूप के होश फ़ाख़्ता हो गये। कमरे के बीच में सोफ़े पर एक लंबा, तगड़ा, अलकतरा-काला, हब्शी-जैसा आदमी बैठा पाइप से तंबाकू पी रहा था। उस आदमी को जगरूप ने कभी देखा नहीं था। देखते ही वह आदमी खूंख़ार मालूम पड़ता था। जगरूप ने सोचा, आगे बढ़कर वह उससे पूछे कि वह है तो कौन ? इतने में स्वयं वह राक्षस जगरूप की तरफ़ लपका— "अन्दर क्यों आया ? अन्दर क्यों आया ?" ललकारता हुआ। उस काले आदमी ने जगरूप का गला पकड़ना चाहा तो जगरूप उससे भरपूर उलझा। दोनों में ख़ासी हाथापाई हो पड़ी। जल्द ही जगरूप ने समझा कि हब्शी उससे मज़बूत था—पेश वह नहीं पायेगा। बारे इसी समय रोज़ी तेज़-क़दम अन्दर आयी—आज्ञा के स्वर में उस हब्शी को धमाकती हुई—

"यू फ़ूल ! जॉन ! ओ जॉन ! उसे छोड़ !" जॉन ने तुरन्त जगरूप को छोड़ दिया। दूसरे ही क्षण वह मिस रोज़ की तरफ़ लपका। उसको बच्चियों की तरह गोद में उठा कर ताबड़तोड़ तीन-चार चुम्में जगरूप के आगे जॉन ने लिये।

"अभी मुझे छोड़ो—इससे निपटना है। तुम माहिम से सूअर का एक बच्चा लाओ। आज सूअर खाने का इरादा है। फ़ौरन जाओ।"

रोज़ी को छोड़ जॉन उसी तरह चुपचाप बाहर चला गया जैसे अलशेसियन कुत्ता मालिक का हुक्म माने। "क्यों मिस्टर ?" जॉन के जाते ही ताना-भरे-स्वर में रोज़ ने जगरूप से पूछा, "गर्दन नहीं मरोड़नी है ? हरामज़ादे ! तूने मुझे भी रानी या मलिका या गुलाब या ज़ेबू समझ रखा है ? मैं तेरी सारी समझ-बूझ ठीक-ठिकाने लगाकर रहूँगी ? मुझे ऐसी-वैसी न समझ लेना।"

"यह जॉन साला कौन है ?" ज़रा खिसियाये-स्वर में जगरूप ने जानना चाहा।

"मेरा पुराना लवर !"

"इसे यहाँ मेरे बँगले पर क्यों बुलाया गया ?"

"तेरा बँगला कैसा ? तेरी फ्लैट तो मालाबार हिल पर है जहाँ तेरी वो है, वो है...।"

"डियरी...!" जगरूप नरम पड़ मधुर बोला।

"गुण्डा ! हरामी !" रोज़ी गरम पड़ कटु बोली।

"इतना गुस्सा ? तुम्हें बहकाया किसने कि मैं उस स्त्री को चाहता हूं जिससे मेरी शादी हुई है। मेरी माई साथ न होती तो मैंने उसे बम्बई में ठहरने तक न दिया होता।"

"वह क़ानूनन ठहरने की हक़दार है। तेरी वाइफ़...।"

"मैंने उसे एक दिन भी वाइफ़ करके माना ही नहीं।"

"तू शैतान सिवा हविस के और किसे माननेवाला है ?"

"देखो डियरी !" जगरूप ने मोह का नाटक करना चाहा "ऐसा झूठ न बोलो जो जमीनो-आसमान में अँटे नहीं। तुम जानती हो मैं तुम्हें जी-जान से चाहता हूँ। तुम्हें ख़ुश करने के लिये मैं क्या नहीं कर सकता हूँ ?"

"हरामी ! हा हा हा हा ! जॉन से डर गया ! अभी थोड़ी ही देर पहले जो यह बोल रहा था कि रोज़ की गर्दन मरोड़कर रख दूँगा बला से फाँसी हो जाय—वह कौन था ? वह शैतान भी तो तेरे ही अन्दर बैठा होगा कहीं ? मौक़ा पाकर तू फिर मेरी गर्दन न मरोड़े इसलिये मैंने यह तय कर लिया है कि...।"

"कि...?"

"कि मैं जॉन से सम्बन्ध करूँगी। वह भद्दा हो, पर मर्द है। काला हो, पर दिल उसका मेरे हक़ में चाँदनी है...।"

"और मेरा...?"

"तेरे सीने में दिल भी है ? मैं तो नहीं मानती ।—आल डेज़र्ट ।"

"डियरी !" आवेदन के स्वर में जगरूप ने कहा ।

"डैम !" धिक्कार के स्वर में रोज़ ने सुनाया—"ये मेरी जूतियाँ हैं । इनसे तू अपना सर फोड़ले तो भी जॉन को छोड़कर अब तुझे मन्जूर करनेवाली मैं नहीं ।"

रोज़ की जूतियाँ उठा जगरूप उनसे अपना सर पीट चला—"तुम खुश रहो !"

"तू थूक कर चाटे तो भी मैं अब तेरी नहीं ।" और जगरूप ने रोज़ के सामने, पशु की तरह झुककर थूक कर चाटा !

"तू मेरी एँड़ियाँ चाटे तो भी जूती की नोंक बराबर भी तेरी इज़्ज़त करने को मैं तैयार नहीं ।"

जगरूप ने झपटकर रोज़ के दोनों चरण पकड़ लिये और उसकी एँड़ियाँ चाटने लगा । अब दोनों उलझ-जैसे गये । मिस रोज ने कहा :

"जा उसीके पास—सती की बेटी के पास । मैं जॉन पर जान देती हूँ ।"

"तुम्हीं मेरे लिये सती हो रोज़ी—डियरी ! तुम जानती हो जगरूप बिना तुम्हारे ज़िन्दा नहीं रह सकता ।"

"इसका सबूत ?"

"जो कहो दूँ...।"

"मैं चाहती हूँ कि मैं भी तेरे परिवार वालों के साथ मालाबार हिल पर रहूँ ।"

"अभी चलो !"

"और घृणा नहीं—वे मेरी सेवा करें ।"

"कौन ? मेरी माई ?"

"वह न सही—तेरी सती की बच्ची—लुगाई ।"

"करेगी।"

"वह मेरे कपड़े साफ़ करेगी, बिस्तर करेगी और हम सोएँगे। एक दिन, दो दिन, तीन दिन...।"

"जितने दिन तुम चाहो उतने दिन...।"

"बस तीन दिन। इसके बाद तेरी सती की बच्ची को पता पड़ जायगा कि तू है किसका। वैसे हरामी—है तो तू किसीका भी नहीं।"

"मैं तुम्हारा हूँ—माई लव! विश्वास करो!"

: २६ :

वह महाराष्ट्रियन-इंजीनियर अपनी स्वस्थ, सुन्दरी-पत्नी की हेठकर बनारस-रिजेक्टेड-वेश्या रानी पर आसक्त हो गया, इसे क्या कहा जाय सिवाय इसके कि विशाल नगरों के धनवान-नागरिक पुराने चावलों ही पर रीझते हैं। अथवा (रानी की तरफ़ से देखें तो) औरत जब स्वाभाविक-आकर्षण—जवानी—अल्हड़पन में लुटा देती है, यौवन का मूल्य उसकी समझ में तब आता है। तब वह मसनूवी, बनावटी हाव-भाव-बनावों से जो यौवन दरसाती है उसके आकर्षण से अनेक नागरिकों की रक्षा असंभव हो जाती है। नहीं तो इंजीनियर पचास के क़रीब का था; बाल-बच्चों-वाला; प्रतिष्ठितों-में-प्रतिष्ठित; वह पुरानी रानी के फेर में पड़ता ही क्यों? पर, रानी पर इंजीनियर के—कुछ नहीं तो—एक हज़ार रुपये हर मास सर्फ़ होते। वह अपने बाल-बच्चों में कभी न सोता और बराबर रानी ही के फ़्लैट में रात काटता था। इंजीनियर के अलावा, उसकी स्वीकृति से, रानी टॉकी-फ़िल्मों में छोटा-मोटा काम भी कर लिया करती थी। बनारस से उसने अपना सारा परिवार बंबई बुला लिया था।

और वह सुखी थी। जगरूप से उसका संबन्ध फिर नहीं हुआ। पर, रानी दिलफेंक औरत थी। जगरूप उसके दिल से पूरी तरह उतरा नहीं था। इंजीनियर के साथ रहकर भी जगरूप की ख़बर वह बराबर रखती थी। जगरूप की अनेक बातों के स्मरण से दूर रहने पर भी रानी के मन में गुदगुदी होती थी। लेकिन दूसरी विपरीत बातों के स्मरण से घृणा भी उसके मन में घोर होती थी। कुछ मौक़े ऐसे थे जिनके आने पर जगरूप मीननेस में आदमी नहीं रह जाता था। रानी ऐसे अधम मौक़ों का शिकार हो चुकी थी और ऐसे आदमी के लिये दिल में घृणा ही पालती थी। वह घृणा से जगरूप के बारे जानकारी रखती थी या अतृप्तवासना से स्वयं इसका निर्णय नहीं कर पाती थी। रानी का हृदय यू. पी. की पुरानी महिलाओं की तरह सनातन-धर्मी था। बंबई पहुँचते ही इंजीनियर का मिलना उसने ब्राह्मण जगरूप के सहवास का प्रसाद ही माना। जगरूप उसे न मिला हो, पर उसी के पुण्य से इंजीनियर उसको मिला था इसमें संशय उसके मन में नहीं था। एक बात और। इसका समाधान वह इंजीनियर की आत्मकथा में भी पाती थी।

महाराष्ट्रियन इंजीनियर बहुत ग़रीबी में पला हुआ था। इंजीनियरी उसने जिस दुर्दशा में पास की थी वही जानता था। यद्यपि इंजीनियर का पिता वकील था फिर भी, मरने के बाद उसने लेमिंगटन रोड से सटी हुई 'अमृत गली' में बड़े अहाते वाले छोटे मकान के अलावा भूजी भाँग भी नहीं छोड़ी थी। अलबत्ता वैदिक, आर्य देवताओं की कई मूर्तियाँ (कुल-देवों के विग्रह) उस छोटे घर का एक पूरा कमरा छेंके हुए थीं। लेमिंगटन रोड के एक प्लाट से मिलाकर सिनेमा हॉल बनाने के लिये 'अमृत गली' के उस मकान की क़ीमत तिरसठ हज़ार रुपये लगी थी, पर, क्योंकि मकान में कुल-देवता थे, उनके कोप का बड़ा भय था, अतः ग़रीबी दूर करने के लिये उन देवों से प्रार्थना करने के सिवाय इंजीनियर और उसके घरवाले और कुछ न कर पाते। लेकिन दूर होना

तो दूर ग़रीबी गहनतर गले पड़ती गयी। इंजीनियर हो जाने पर भी नियुक्ति नहीं। बीवी-बच्चों की तकलीफ़ें देख-देख उसका कलेजा मुँह को आने लगा। ग़रीब और जवान इंजीनियर ने सोचा कि आप मरे तो जग मरा। जब मेरे बच्चों की शिक्षा-दीक्षा की बुनियाद ही बिगड़ जायगी तब भविष्य कुछ भी होकर क्या बना देगा ? जीवन में फलद न हों तो क्या देव और क्या धर्म। असिल देवता तो दिल में, नीयत-तबीयत में होते हैं। सो, इंजीनियर ने अपना मकान सिनेमा हाउस बनने के लिये दे देने का इरादा किया—बेच देने का नहीं। इस शर्त पर जगह उसने दी कि सिनेमा हॉल की आमदनी की साढ़े बारह सैकड़े रक़म उसे मिले बराबर। और वह फ़्लैट किराये पर लेकर रहने लगा। लेमिंगटन रोड पर 'विष्णु सिनेमा' आज भी कोई देख सकता है। सिनेमा का उक्त नाम इसीलिये पड़ा कि इंजीनियर के घर के प्रधान देव विष्णु-भगवान थे। घर की (देवताओं की) मूर्तियाँ पत्नी द्वारा त्राहि-त्राहि किये जाने पर भी इंजीनियर ने समुद्र में समाधिस्थ करा दीं। समुद्र से लक्ष्मीजी पैदा हुई थीं। सो, समुद्र विष्णुजी की ससुराल। देव-विग्रहों के समुद्रस्थ होते ही लेमिंगटन रोड के सिनेमा-हाउस में लक्ष्मी बरसने लगीं! उन्हीं स्थानों पर जहाँ इंजीनियर और परिवार दारिद्र्यों, भूखों मरा था। विष्णु सिनेमा की अपने हिस्से की रायल्टी से इंजीनियर को नौ से साढ़े ग्यारह सौ रुपये तक मासिक आमदनी अनायास ही होने लगी। बुद्धिमान, कुलीन इंजीनियर की बुद्धि मोह-विमुग्ध-जैसी हो गयी। जब पूजा थी, उपासना थी—तब सोलहो दंड एकादशी हुआ करती थी। और उसी स्थान पर जब चित्र-विचित्र, काम-क्रीड़ाएँ हो रही हैं—पाप-पंकिल—तब आनन्द है, मंगल है, खेम है, कुशल है। तो ? क्या ?? जप, तप, पाठ, पूजा, देव, पितर सब आउट-आव-डेट नहीं ? तो क्या इस ज़माने में ईश्वर के फेर में पड़ना बालू से तेल निकालना नहीं ? सो, अविश्वासी बन महाराष्ट्रियन

इंजीनियर राम को छोड़ आराम की तरफ़ चला आया। शायद अचानक मिलने वाले अधिक रुपयों की हवा का रंग ही रंगीनियों-भरा होता है। इंजीनियर को सिनेमा हाउस से सिनेमा स्टूडियो का चिर-आकांक्षित पता लगा और स्टूडियो में वे परम आकांक्षित वस्तुएँ सुलभ हुईं जिनकी कल्पना-मात्र से इस देश की युवक-युवतियाँ बंबई की तरफ़ लहरा उठती हैं जैसे नद-नदियाँ महा-समुद्र की तरफ़ लहराएँ। इंजीनियर मांसादि खाने, सुरादि पीने तथा अपनी नेक औरत से दग़ा कर अनेक औरतों से मिलने लगा। "यह सब पाप है!" सीधी महाराष्ट्रियन पत्नी ने वर्जन के स्वर में पति से, सभीत, कहा। "पुण्य तुम अपना अपने पास रखो। खाओ, पहनो, बच्चों को सँभालो। मुझे पापी ही बना रहने दो। तुम्हारा नामधारी पुण्य सँवार चुका मेरा इहलोक।" इस उत्तर से भी भीत हो उसकी धर्मभीरु धर्म-पत्नी ने पत्थर के देवताओं के चरणों में नाक रगड़ी कि उसके पति का सौभाग्य देव-कोप का रगड़ा न खाये। सो, इंजीनियर-परिवार में पत्नी समझती कि देवताओं की खुशामद करके वह विषय-गामी पति की रक्षा कर रही है लेकिन इंजीनियर यह समझता कि देवताओं को दूर करके ही वह परिवार का पोषण कर रहा है। इंजीनियर की पत्नी निस्सन्देह उन भारतीय-गृहिणियों-जैसी थीं जो अपने ही कर्त्तव्य पर सम्पूर्ण ध्यान रखती हैं—पति से बिना किसी आशा के। उसे रानी का और मालाबार हिल में उड़नेवाली पति की मोटी रक़म का भी पता था; पर, इससे खिन्न होने की जगह भिन्न ही आचरण उस महिला ने किया। स्वयं ही वह रानी से मिली—उससे बहनापा क़ायम किया और संगीत सीखने तक लगी। बरसों मिलती रहने पर भी उस महाराष्ट्रीय देवी ने एक दिन भी रानी पर यह विदित नहीं होने दिया कि वह उसकी उपस्थिति से असन्तुष्ट है। और सचमुच वह अपने पति की प्रसन्नता में ही सुप्रसन्न रहनेवाली देवी थी। अपने बाल-बच्चों को ही सँभालने से उसे फ़ुर्सत नहीं मिलती

थी—गृहस्थी के अनन्त-कामों से—कि किसी दूसरी चिन्ता को वह पास भी फटकने न देती। इंजीनियर-पत्नी को देखते ही लगता था कि ज़रूर वह कोई सुखी-सम्पन्न-महिला है।

घंटी बजने पर एक दिन सवेरे-ही-सवेरे दरवाज़ा खोलने जाकर आश्चर्य-पूर्ण-प्रसन्नता से रानी ने क्या देखा कि उसके उदार, सहृदय, नृत्य-संगीत-गुरु लीलाधर कत्थक प्रत्यक्ष खड़े मुस्करा रहे हैं। लपककर उसने गुरु के चरण छूकर प्रणाम किया। लीलाधर ने उसका सर छूकर आशीर्वाद दिया। रानी ने अन्दर लाकर, सुआसन पर बैठाकर लीला-धर से कहा—

"धन्य भाग! आज सपने में मैंने विश्वनाथ बाबा के दर्शन किये थे और जागते ही सोच रही थी कि कोई परम सुफल फलित होनेवाला है। बनारस में सब कुशल-मंगल है न? सामान आपके साथ नहीं है। कहीं और ठहर गये हैं तो आपने मेरे साथ महा अन्याय किया है। कहाँ ठहरे हैं?"

"तुम्हारे ही घर पर महारानी!"

"पहेली न बुझाइये। जल्दी बतलाइये। मैं अभी आदमी भेजकर—क्या—खुद जाकर आपका सामान ले आऊँगी। इस फ़्लैट में कुल पाँच कमरे हैं। हमारे लिये तो तीन भी बहुत हैं। दो बराबर ख़ाली ही पड़े रहते हैं। वह पश्चिमवाला कमरा देखिये—है कि नहीं?—उसकी अगासी से समुद्र नज़र आता है। कहाँ ठहरे हैं आप?"

"अभी गत सन्ध्या ही को तो आया हूँ," लीलाधर ने सरस-सुनाया—"तुम्हारी तो परिस्थिति ही मुझे मालूम नहीं थी कि जगरूपजी से तुम अलग हो चुकी हो। मैंने समझा था जहाँ गुरू होंगे वहीं महामाया भी होगी। यह तो आने पर, जगरूप गुरू से 'बतियाने' पर, रहस्य खुला। क्या हुआ कि यह जोड़ी टूटी? अभी तक मैं अंधेरे ही में हूँ।"

"पूछा नहीं अपने गुरूजी से?"

"गुरू तो फिर गुरू ही होते हैं महामाया ! वह तो जब देखेंगे चेले ही का दोष...।"

"क्या कहते थे वह मुझे—यह बतलाइये पहले ?"

"जगरूप गुरू ने बतलाया कि तुम्हीं किसी गाँठदार के गठ-बन्धन में....।"

"झूठ ! मेरे सामने कोई कहे, तो मैं..." रानी ज़रा उत्तेजित हो उठी—"सत्तर चूहे खाकर बिलाड़ी चली हज को ?"

"चलो..., बंबई आकर तुम घाटे में तो नहीं रहीं ?" लीलाधर ने सुनाया—बनारस में दालमंडी की बुरी हालत है। गाना-बजाना सुननेवाले रईस अब रहे नहीं। रह गये हैं रईसों के और रोज़गारियों के इगिड़बिगिड़-पढ़े नये-नये लौंडे—कला-कलाविदों से इतने परे, जितने गधे संगीत से। जिन्हें चाहिये जवानी मात्र। सो, महामाया, मेरी मानो ! तुम बहुत अच्छी रहीं। जगरूप गुरू से किसी दीगर देवी का बुरा हुआ हो; तुम्हारा तो भला ही हुआ है।"

"मेरा बुरा उनसे नहीं हुआ," रानी ने सुनाया, "झूठ कह पाप की भागिनी मैं नहीं बनूँगी। लेकिन गुरु महाराज ! मैं आपके चरण छूकर कह सकती हूँ—मैं भी आदमियों में रहती हूँ, और आदमी को कम नहीं पहचानती—जगरूप-जैसे आदमी जब करेंगे अपना ही नुकसान करेंगे। आजकल एक अदना-सी औरत पर—जिसे न शक्ल, न अक्ल—इस तरह लट्टू हैं कि वह ऐयारा हज़रत को अँगुलियों पर नचाती है।"

"यह सब दण्ड है महामाया !" गंभीर भाव से लीलाधर ने सुनाया—"जगरूप ने अन्याय से अपनी साध्वी-स्त्री का जो तिरस्कार किया है यह सब उसीका दण्ड है।"

"वह टकैल औरत जैसा इशारा करती है जगरूप वैसा ही करता है।" रानी अभी अपनी ही तरँग में प्रवाहित थी, "जो भी फ़िल्म जगरूप डाइरेक्ट करेगा उसकी हीरोइन सिवा मिस रोज के क्या मजाल कि

रंभा या उर्वशी या मेनका भी हो जाये। पिक्चर फ़ेल हो कि पास। नतीजा यह हो रहा है कि जगरूप मालिकों की नज़रों से उतरता, कला-पारखियों की सहानुभूति खोता, सच्ची सफलता से दूर होता जा रहा है। भगवान न करें!—मैं किसी का बुरा क्यों चेतूँ?—लेकिन ऐसा ही रहा तो भविष्य भगवान ही के करते। भला हो तो हो।"

"दो की दोनों दिन-रात रोती हैं।"

"कौन दोनों?"

"गुरुजी की पत्नी और माईजी!"

"आपने तो जगरूप की बहू को देखा है? वह तो उसे बराबर भद्दी, चुड़ैल ही कहा करते हैं।"

"होनहार होगा महामाया! कुछ होनहार होगा। तभी तो जगरूपजी को उस बेचारी औरत-जैसी सती पसन्द नहीं। रहा रूप, सो मैंने तो उसको नाचना सिखाया है...।"

"नाचना? जगरूप की बहू को?" जैसे आसमान से नीचे गिरकर रानी से पूछा—"आप कह क्या रहे हैं?"

"उस बेचारी गाय ने इस क़साई को ख़ुश करने के लिए लाज छोड़कर मुझ से नाचना तक सीखा है...।"

"नाचती है?"

"ऐसा कि क्या कहूँ।"

"बेवक़ूफ़!" रानी ने जगरूप की पत्नी को मूर्खा माना "उसने समझा होगा कि रानी के नाचने पर नाचकर जगरूप घर छोड़ कर चला आया था। जगरूप औरत इसलिए चाहा करता है कि औरत औरत है, न कि इसलिए कि उसमें औरत के अलावा कोई आला सिफ़्त, गुण या विशेषता है। यह आजकल वाली माशूक़ा उसकी—मरियम रोज़—जिसको यहाँ तक पता नहीं कि नाचना या गाना किस बला का नाम है—वो नचा रही है पंडित बनारसी गुरू को कि याद

रखेंगे ज़िन्दगी भर—अगर ज़िन्दगी सलामत रही...।"

"क्या कहती हो महामाया !"

"बम्बई की ये बदज़ात-जात, कुजात औरतें रानी-जैसी नहीं होतीं। ये तो अमरबेल-जैसी होती हैं गुरू महाराज ! जिस वृक्ष पर बढ़ीं उसे ले ही बैठीं। और यह औरत—मिस रोज़—शहर के सभी शातिर गुंडे, लुच्चे-लफंगे उसके पुराने चाहनेवाले हैं। जगरूप अगर रोज़ से जल्द ही अलग न हो जायगा तो मुझे तो अनिष्ट-ही-अनिष्ट दिखलाई देता है।"

"यही चिन्ता जगरूप गुरू की माईजी को भी चबाये जा रही है।"

"हाँ, तो जगरूप पर बहू के नाचने का प्रभाव पड़ा कुछ ?"

"माईजी कह रही थीं कि उससे मारे लाज के कभी नाचा ही न गया—पति के सामने।"

"तो जगरूप मालाबार हिल वाले फ़्लैट ही में सोता है; सान्ता-क्रूज़ नहीं ? यह बड़ी बात है।"

"कहाँ की बड़ी बात !" खेद से लीलाधर ने रानी की आशा का खण्डन किया, "वे दोनों ही उस राँड़ की सेवा करती हैं—कि जगरूप गुरू दुःखी न हों।"

"क्या ? बनारस की ब्राह्मणियों से मिस रोज़ सेवा लेती हैं ?"

"नीच-से-नीच ! जगरूप की पत्नी उसके लिए सेज सजाती है, उसके जूठे बरतन तक माजती है।"

"मैं एक बात पूछूँ गुरु महाराज; सतियों की यह दुर्दशा देखकर क्या भविष्य में स्त्रियाँ सती रहना पसन्द करेंगी ?"

"वह भविष्य भयानक होगा महामाया,—परिवार की नज़र से...।"

"मैं तो यह जानती हूँ कि ताली दोनों हाथों से बजती है। पुरुष

शान्ति चाहता है तो उसका फ़र्ज़ होना चाहिए स्त्री का शान्ति-भंग न करना। हर्गिज़—हर्गिज ! बिना सत्यवान बने मियाँमिट्ठू लोग जो औरत को सावित्री, सुच्ची बनाना चाहते हैं निस्सन्देह वे परिवार-व्यवस्था को बिलकुल बिगाड़कर छोड़ेंगे।"

"आश्चर्य !" लीलाधर ने कहा "महामाया ! तुम तो जगरूप गुरू की घरवाली के पक्ष में बोल रही हो !"

"आपको मेरा कहना" रानी गंभीर थी "शायद यह सब सोचकर तिरिया-चरित्तर मालूम पड़े, कि जगरूप को पतन का पहला धक्का देने-वाली मैं, कि उसकी नव-वधू के उजाले में अन्धकार भरनेवाली मैं—अब कैसी बातें कर रही हूँ।"

"आदमी के बारे में आदमी की राय समय, अक्सर, सुधार या बिगाड़ देता है महामाया !"

ठीक है गुरू महाराज, लेकिन मेरे मन में तो जगरूप के लिए पहले ही जैसा भाव है। वह जहाँ भी रहें, नीके रहें। मेरे न रहें न सही। लेकिन मिस रोज़ की संगत में उनकी जान की खैर नहीं। इसलिए मैं चाहती हूँ कि किसी-न-किसी तरह जगरूप का मन अपनी घरवाली की तरफ़ खिच जाय तो सब ठीक हो जाय। मैं समझती हूँ बड़ा अच्छा हो अगर जल्द ही किसी दिन जगरूप अपनी औरत का नाचना देखें। उस पर इन गुणों का प्रभाव बेहद पड़ता है, यह भी सही है। तो, परीक्षा कर क्यों न देखा जाय? कौन जाने भगवती की इच्छा इसी रीति से उस बेचारी का कल्याण करने की हो।"

"अभी तो मैं आया ही हूँ महामाया, देखो—प्रभु की क्या इच्छा है...।"

"आप मिस रोज़ से जगरूप को छुड़ा सकें तो—जगरूप भले मेरे नाम पर थूके—मैं सत्यनारायण की कथा सुनूँ—कथा। मिस रोज़ ? मैं औरत हूँ और औरत को मज़े में पहचानने की तमीज़वाली

हूँ—यह औरत नहीं डंकिनी है। मेढुकी-से कूल्हे, बिल्ली-सी आँखें, सूअर-सी चाल....।"

"ऐसी हरामी है मिस रोज़ ! सुना है वह जगरूप गुरू का कभी साथ ही नहीं छोड़ती। फिर ? किसी तरह जगरूप की बहू को नाचने पर तैयार भी करूँ तो किस भरोसे पर ?"

तबतक लीलाधर का सामान जगरूप के फ़्लैट से रानी का नौकर ले ही आया—

"शाबाश !" रानी ने नौकर को शाबाशी दी—" उसी पश्चिमवाले कमरे में गुरूजी का सामान जँचा दो। इनकी सेवा प्रेम से करना बेटा ! ये बड़े गुणी लोग हैं और मेरे गुरू महाराज हैं।" रानी ने अब लीलाधर से कहा—"पहला काम गुरू महाराज बंबई में यह करें कि जगरूप की रक्षा करें जिसमें उसकी औरत की भी सुरक्षा है। इसके बाद—आप तो बंबई में, फ़िल्म-लाइन में नृत्य-गुरु बनकर बेबहा रुपये कमायेंगे।"

"जगरूप गुरू और उनके परिवार के प्रति मेरे मन में भी बड़ी करुणा है। कुछ उठा न रखूँगा महामाया ! लेकिन फ़िल्म-लाइन के बारे में मेरी राय और ही है।"

"सो, क्या ?"

"फ़िल्मों से किसी का भला होते मुझे तो नजर नहीं आता है। साथ ही, इसका प्रभाव जन-समुदाय पर कल्याणकारी नहीं पड़ रहा है...।"

"किस तरह ?"

"विलायती-फ़िल्मों, विलायती आचरणों, विलायती रस्म-रिवाज़ों का प्रदर्शन और दर्शन अपने देश के आचरणों और रस्म-रिवाज़ों से बिलकुल भिन्न पड़ता है। हमारे यहाँ रास, नौटंकी, लीला, तमाशा आदि में धर्म की कथाएँ गायी जाती हैं या महा-पुरुषों के चरित्र प्रदर्शित

किये जाते हैं। पर इन अमरीकी-फ़िल्मों में ? जाल, फ़रेब, ज़िना, डाकेज़नी, सबके सामने बोसे-बाज़ी, 'लपटौवल'—देख-देखकर लोग ज़रूर एक दिन यही सब पब्लिक में करेंगे। तुम्हें मालूम नहीं ? सारे-के-सारे बदमाश इसलिये भी अमरीकी-फ़िल्में देखने जाते हैं कि उनसे बदमाशियों की शिक्षा मिलती है।"

"मगर, गुरू महराज ! मैं तो देसी-फ़िल्मों की बात कह रही थी। विलायती चूल्हे भाड़ में जायें।"

"ये देशी फ़िल्में तो और भी गयी-गुज़री गति की बनती हैं—दुर्गति-भरी। उन्हीं अमरीकी-फ़िल्मों की भद्दी नक़ल। मुझे झखमार कर फ़िल्म देखना ही पड़े तो मैं इन देसियों की जगह अमरीकी-फ़िल्म ही देखूँ। क्योंकि देसियों में देखिये तो देखने क़ाबिल कुछ होता ही नहीं।"

"जो हो" रानी ने कहा, "मैं तो यह जानती हूँ कि फ़िल्म-लाइन में पैसा है। होना चाहिये भाग्य !"

"क्या बात कहती हो, महामाया ! भाग्य ही हो, तो लात मारने से पृथ्वी फटती है और दफ़ीने हासिल होते हैं। भाग्य ही हो, तो फ़िल्म-लाइन की ज़िल्लत-भरी जिन्दगी की ज़रूरत ?"

"ज़िल्लत ?"

"बेशक ज़िल्लत ! यह एक्टरी भी कोई पेशा है। किसी कवि ने उक्ति सोचकर कहा—'उदर निमित्तं बहुकृत वेशम्' लेकिन एक्टर तो उक्त उक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण है। टके मिलें—कोढ़ी बनने को, छिनाल का पार्ट अदा करने को, मर्द ही नहीं, औरतें तक तैयार हैं।"

"कहते हैं—एक्टिंग भी एक कमनीय-कला है।"

"कमनीय नहीं, महामाया, कमीनी-कला कहो। मुझे नगवा (काशी) के पंडित ने बतलाया था कि मनुस्मृति में मनु महाराज ने व्यवस्था दे रखी है कि किसके-किसके-साथ एक्टरों के भी घर का दाना-पानी ग्रहण करने से भले आदमियों को बचना चाहिये।"

चलिये अच्छा हुआ, मनु महाराज का राज नहीं हुआ गुरू महराज ! नहीं तो न नाटक होता, न ऑपेरा, न फ़िल्म, न सिनेमा...।"

"और ये वस्तुएँ हैं, तो इन्सान की कौनसी भलाई हो रही है ? सिनेमा से ही सुनाना शुरू करो।"

"सस्ते में लोग सुख पाते हैं, सिनेमा से।"

"सुख पहले तो शायद है ही नहीं संसार में महामाया ! यहाँ पर आदमी दुःख ही भोगने को आता है। 'जीव सकल संताप के भाजन जग-माहीं'—गोसाईंजी ने कहा है। इस 'सकल' के परे न एक्टर है, न डाइरेक्टर, न तुम, न लीलाधर कत्थक। सो, जब सन्ताप ही ध्रुव है तब सुख-रूपी माया-मृग के पीछे कोई पड़े ही क्यों ? रही-सही शान्ति-सीता को संकट में डाले ही क्यों ? फ़िल्म-कंपनी ? महामाया। फ़िल्मों से मुझे ऐसी नफ़रत हो रही है कि हजार टके मासिक वेतन मिले तो भी—मैं भूखे मरूँ लेकिन फ़िल्म के धन्धे में न पड़ूँ।"

इसी समय घंटी बजी, नौकर ने द्वार खोला तो कोई फ़ैशनेबुल षोडशी खटाखट अन्दर दाखिल हुई।

"ओहो, कुसुमबेन ! आओ, आओ !" रानी ने आगंतुक का आगे बढ़कर स्वागत किया "कैसे भूल पड़ीं आज ? स्टूडियो में शूटिंग आज नहीं थी—क्यों ?"

"मैं स्टूडियो से ही चली आ रही हूँ।" कुसुम ने सुनाया—"ये फ़िल्म-डाइरेक्टर बड़े ही मूडी आदमी होते हैं। और इनकी मूड क्या विधाता की इच्छा है—पूरी होना ही चाहिये। आज मुझ से कहा जाता है कि तुम्हें तो फ़िल्म में नाचना भी पड़ेगा। बस आधा मिनट; पर, इसी सेट में। पूछो—नाचना मैंने कभी सीखा ही नहीं। अब एक ही हफ़्ते में यह नामुमकिन मुमकिन हो तो क्योंकर ? सो, मुझे रानी बेन की याद आयी और मैं तुम्हारे पास दौड़ी-भागी चली आ रही हूँ कि मेरी बेन तो जानती ही है नाचना। मैं मेहनत करने को तैयार हूँ।

सिखाना तुम्हें पड़ेगा रानी बेन।"

"लेकिन इसके लिए मुझे दोगी क्या ?"

"तुम्हारी शिक्षा से फ़िल्म में मैं नाच सकूँ तो जो कहो वही रक़म नज़र होगी....।"

"फिर भी...?"

"पाँच सौ रुपये ?"

"बस! ख़ैर, पाँच सौ तो तुम तब दोगी कुसुमबेन जब मैं सिखलाऊँ। लेकिन अगर मेरे भी उस्ताद आपको नाचना सिखलाना स्वीकार करें तो आप क्या दिला सकेंगी ?"

अब कुसुम का ध्यान लीलाधर की तरफ़ गया जो चुपचाप दोनों की बातें सुन रहा था; साथ ही कुसुम के सौन्दर्य और यौवन की आँखों-ही-आँखों में समीक्षा भी कर रहा था। सचमुच वह परमशोभना थी। कुसुम के यौवन से मृत-संजीवनी वासन्ती-वायु-जैसी लहराती लीलाधर के पुराने भावुक-मन को लगी।

"आपके उस्ताद ?" कुसुम ने आश्चर्य-मिश्रित अविश्वास से पूछा "मेरी ऐसी तक़दीर कहाँ जो उनसे तालीम पा सकूँ। मैं तो तुम्हारी ही कृपा से कृतार्थ हो जाऊँगी।"

"फिर भी, अगर मेरे गुरू महाराज सिखावें तो तुम क्या दोगी ?"

"जो तुम कहोगी—वही।"

"दो हज़ार रुपये मैं तो कहती हूँ।"

"पर, गुरूजी कहीं हों भी...।" कुसुम ने पुनः लीलाधर की तरफ़ स-सन्देह देखा।

"कहो गुरू महाराज!" अब रानी ने लीलाधर से पूछा "इन्हें आप नाच सिखला देंगे ? एक मिनट का नाच...।"

"इस एक मिनट में महामाया !" लीलाधर ने कहा "मिनिट नहीं नाच ही प्रधान है। मिनिट क्या एक क्षण भी रियाज़ी गुणी ही

गुण दिखा सकता है। जैसे सरस गायक ही क्षण भर भी सरस स्वरालाप कर सकता है।"

"इसीलिए तो गुरू की ज़रूरत है।"—कुसुम।

"इसी बात की दो हज़ार गुरु-दक्षिणा है। बोलिए—यह मेरी सहेली और फिल्म-कम्पनी के मालिक की भी मलेका हैं। दो हज़ार ही नहीं कुसुमबेन आपको हज़ार रुपये मासिक की नौकरी भी कम्पनी में कल ही से दिला सकती हैं। जल्दी बोलिए गुरू महाराज। यह बम्बई है, बनारस नहीं। यहाँ चट मँगनी, पट ब्याह ही चलता है। अच्छे का मुहँ देखकर सवेरे उठे थे आप। निस्संदेह बनारस से चलते वक़्त रास्ते में आपको बछड़े को दूध पिलाती कोई गऊ मिली होगी या भरा घड़ा लिए कोई सौभाग्यवती! अभी आप सोच ही रहे हैं? बोलिये!"

"तुम जानती हो महामाया," लीलाधर ने कहा "मैं तुम्हारी बात टालता कभी नहीं।"

"चलो! बड़े भाग्य!" रानी ने कुसुम को सुनाया "गुरू महाराज को फ़िल्म-कम्पनियों से चिढ़ है बहन! सो, इनसे अपने बँगले ही पर सीखने में कोई हर्ज है क्या?

"जब मैंने मंज़ूर कर लिया महामाया! तब क्या बँगला क्या कम्पनी जहाँ भी कुसुमजी चाहेंगी मैं तालीम दूँगा। कब से?"

"आज ही से।" कुसुम ने उत्सुकता से कहा—"सेट रुका रहेगा जब-तक आधा मिनट का नाच मैं सीख न लूँगी।"

इसके थोड़ी ही देर बाद कुसुम प्रसन्न-मन चली गयी; लीलाधर से थोड़ी ही देर बाद मोटर भेजकर बँगले पर बुलाने का वायदा करके। लेकिन लीलाधर ने ताड़ा कि रानी उसी क्षण से कुछ मुर्झा-सी गयी। "क्यों?" लीलाधर ने सोचा "क्या इस पुरानी पतुरिया ने कुसुम के प्रति मेरे अन्तस का भाव—मोह-मुग्ध-भाव—ताड़ लिया? कैसी साँचे

में ढली तरुणी थी वह कुसुम ! जितनी देर यहाँ पर थी हवा में बहार-सी छा गयी थी। मगर, मुझे फ़िल्म का धन्धा ईमानन करना नहीं चाहिये था। थोड़ी देर पहले जब रानी ने कहा कि मैं फ़िल्म-स्टूडियो में डान्स सिखाने का काम स्वीकार कर लूँ तब तो मैंने त्याग दिखलाया, दिखलाया आदर्श-चरित्र, उपदेश बघारे, लेक्चर झाड़े, लेकिन ज़रा ही सी परीक्षा में पाखंड का पर्दा फ़ाश, क़लई खुली धरी ! युवती हो और बाँकी—बस, लीलाधर के आदर्श तेज़ हवा के बादल बने। आदमी की कथनी और करनी में—अरे इस उम्र में तो—सफ़ेद और काले जितना अन्तर नहीं होना चाहिये।"

झेंपता हुआ लीलाधर रानी से बोला—

"महामाया ! तुम एकाएक गंभीर और उदास क्यों हो उठीं ?"

"गुरू महाराज !" रानी ने नीरस सुनाया "मैं उदास हो गयी यह सोचकर कि आज मैं इस क़ाबिल न रह गयी कि आपने मेरे कहने से फ़िल्म का काम मंजूर कर लिया होता...।"

"क्या कहती हो महामाया...!"

"महामाया क्या आज से अपने गुरू महाराज को जानती है ?"

रानी गाने लगी—"अरे—लगी नहीं छूटै—चाहे जिया जाये ! आशिक़-मिजाज़ बिना ताक-झाँक रह ही नहीं सकता।"

"यह तुम्हें कैसे मालूम हुआ—महामाया ?" लीलाधर ने चिढ़कर पूछा।

"गुरुओं की संगत से !" रानी ने भी चिढ़े ही स्वर में सुनाया।

"तुम्हें बुरा लगता हो, तो मैं कुसुम का ट्यूशन छोड़ देने को तैयार हूँ—महामाया !"

"गुरू महाराज की बातें ! कहावत है—नयी आयी, पुरानी को दूर करो—हाँ।"

"कहावत है" लीलाधर भी मुहाविरे के अंग से आया "नयी नौ दिन, पुरानी सौ दिन।"

"यह कुसुमबेन पूरी जादूगरनी है।" रानी ने सुनाया "फ़िल्म-कम्पनी का मालिक इसके पीछे यों लगा फिरता है जैसे नशे के पीछे पागलपन। ज़रूर गुरू महाराज वह तुम्हें अपने ही यहाँ अटका रखेगी।"

"ऐसा हर्गिज़ नहीं होगा महामाया !" लीलाधर ने गंभीर-भाव से कहा—"कुसुम का डान्स ठीक करते ही मुझे जगरूप की धर्म-पत्नी के लिये शक्तिभर कुछ करना ही है। सौ-में-सौ बार—मुझे विश्वास है—मैं जगरूप गुरू को उनकी अभागिनी सौभाग्यवती की तरफ़ आकर्षित करके रहूँगा।"

: ३० :

महादेवी किसी असाध्य-स्थिति को अर्से तक बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। महीनों प्रेमा और महादेवी जगरूप के प्रसन्नतार्थ मिस रोज़ की नीच-से-नीच सेवाएँ करती रहीं; पर, परिस्थिति में कोई आशा-प्रद अन्तर नहीं पड़ा। रोज बराबर सर-चढ़ी-डोमिनी-नाचे—ताल-बेताल ही बनी रही। घर में आते ही जगरूप की पत्नी पर वह यों रोब झाड़ने लगती गोया वह बेचारी नौकरानी से भी बदतर थी। पर प्रेमा साँस तक न लेती। छः महीने हो चले बंबई आये—मिस रोज़ तो दूर, अपने पति के आगे भी बिना घूँघट काढ़े वह कभी न आयी। जो आदमी रोज़-जैसी नारी का दास बन सकता था—पति होने पर भी-उसे अपना मुँह दिखलाने में प्रेमा ग्लानि से भर जाती थी। महादेवी प्रेमा के दुःख और मनोभाव मज़े में पहचानती थी; पर, घटना-क्रम के आगे उसका वश कुछ चल नहीं पा रहा था। और वह बराबर ऐसे

अवसर की ताक में रही जब कि मिस रोज़ पर ऐसा आक्रमण किया जा सके जिससे वह जगरूप की नज़रों में सँभल ही न पाये। वह जानती थी कि जगरूप ने अपनी पत्नी को जितने दिनों से नहीं देखा है उतने दिनों में प्रेमा में बड़ा परिवर्तन हो चुका है। मिस रोज़? देखने वाली आँखें हों तो मिस रोज़ तो उसके पाँव की धूल तक नहीं। ऐसी राय महादेवी की अपनी 'नतोहू' के बारे में दृढ़ थी।

प्रेमा के नृत्य-गुरु लीलाधर के आजाने से महादेवी और भी आश्वस्त हो चुकी थी। उसने लीलाधर से एक दिन कहा भी था कि जिस दिन राँड़ रोज़ आउटडोर शूटिंग के लिये बंबई बाहर जायेगी उसी दिन वह जगरूप पर अन्तिम महामन्त्र मार सकेगी। और यह अवसर आते अधिक समय न लगा। मिस रोज़ कई दिनों के लिये किसी निजी काम से कलकत्ते चली गयी। उसके जाते ही लीलाधर ने जगरूप से कहा—

"गुरूजी, आज आप स्टूडियो से जल्द घर लौटते तो ठीक होता।"

"क्यों?"

"आज बनारस से मेरी एक चेली आनेवाली है। ऐसा नाचती है कि देखकर आप प्रसन्न हो जायँगे।"

"वह चेली तुम्हारी 'माल' है कि पैसेन्जर पहले यह बतलाओ।"

"नग।"

"तुम लीलाधर अक्सर ग़लत बातें कह बैठते हो। मुझे मज़े में याद है एक बार तुमने कहा था कि अकबर या शाहजहाँ के ज़माने में श्रीनाथद्वारा में एक कत्थक नाचनेवाला था। पर श्रीनाथद्वारा की बुनियाद तो औरंगज़ेब के ज़माने में पड़ी थी। उसी तरह अब कह रहे हो कि वह चेली तुम्हारी नग है...।"

"नग।" लीलाधर ने पुनः कहा।

"अरे भाई, नग माने पहाड़, नग माने हाथी, नग माने नगीना।

अब तुम्हारी चेली अगर पहाड़ या हाथी हो तो ? ज़रा ऐसी बात करो जिसमें एक ही अर्थ हो।"

"नग माने अँगूठी का नगीना। आप आठ बजे तक आ जायें—फिर चाहे थोड़ी देर बाद चले जायँगे। आपके स्थान पर मैं सारा साज़-सामान रेडी रखूँगा। आते ही नृत्य शुरू हो जायगा।"

"किस रंग का नाच सीखा है उसने ?"

"माने...?"

"मेरा मतलब यह कि वह मणिपुरी नाच नाचेगी, या कर्नाटकी, भरत-नाट्य या कत्थकी ?"

"मैंने उसको नये रंग का एक नाच सिखाया है। उसका नाम है नव-घूँघट-नृत्य। आप देखेंगे तभी समझ सकेंगे कि मैंने कितनी मेहनत इस चेली पर की है।"

"फ़िल्म में काम करेगी ?"

"घर-गृहस्त लोग हैं...।"

"आज भले ही फ़िल्म-लाइन में घर-गृहस्थ औरतें नहीं के बराबर हों," जगरूप ने हलकी गंभीरता से सुनाया "लेकिन कल उन्हीं औरतों से ये सब स्टूडियो भरी रहेंगी।"

"आपकी बातें ! आप समझते हैं जिस धन्धे में आज तवायफ़ें भरी हुई हैं उसीमें कल गृहस्थ औरतें भर जायँगी ?"

"बिलकुल...?"

"क्यों ?"

"क्योंकि इस लाइन में रुपये पुष्कल हैं। और औरतें चाहती हैं गहने और आराम—जो रुपयों से मिलते हैं। औरत अच्छी हो या बुरी—हज़ार-में-हज़ार—दर-दागीनों पर पसीज जाती हैं।"

"हमारी राय है, गुरुजी" लीलाधर ने तीखे-स्वर में कहा—"अभी असिल औरत आपने देखी नहीं है।"

"औरतों को चराता रहता हूँ; रोज ही चर्के देता; चंग पर चढ़ाता; रंग पर चढ़ाता और तुम कहते हो देखा ही नहीं। खैर, मैं आठ बजे आऊँगा और देखूँगा कहाँ की रम्भा-उर्वशी तुम्हारी शिष्या है।"

जगरूप पर यह ज़ाहिर होता कि नाचनेवाली उसीकी धर्मपत्नी होगी तो यों न बनकर बात किसी और ही गौं बनती। क्योंकि उसकी आदत दूसरी स्त्री चाहने की थी। दूसरी हो भले साँचे में ढली न भी हो। अपनी औरत हुई नहीं कि जगरूप को छीकें आने लगतीं। मिस रोज़ बाहर है। ऐसे मौक़े पर अगर लीलाधर की शिष्या क्षण-भर मनोरंजन का मस्त-विषय बन जाय तो क्या ही कहने। सो, अच्छी तरह से शराब पीकर वह लड़खड़ाता हुआ फ्लैट पर आया। दूसरी मंजिल के ज़ीने ही पर उसे तबले की आवाज और किसी के नाचने का छूमछनन सुनायी पड़ा। मुख्य कमरे में पहुँचकर जगरूप ने देखा लीलाधर तबला बजा रहा था और कोई औरत राजपूती ड्रेस में, घूँघट काढ़े नाच रही थी। बिना डिस्टर्ब किये जगरूप चुपचाप लीलाधर के निकट बैठ गया।

"इसी नाच का नाम है—'नव-घूँघट नृत्य'। इसके बोल हैं—

घूँघट को पट खोल री, तोहे पीउ मिलेंगे।"

कबीरदास के प्रसिद्ध पद के आरंभ की इस पंक्ति को लीलाधर ने नाच के बोल की तरह मुँह से, कई तरह से—परन के बोलों के साथ अदा किया। लीलाधर के बोलों के साथ ही वह नाचनेवाली विभिन्न हाव-भावों से, प्रभाव-पूर्ण ढंग से, कबीर के पद का वातावरण घूँघट के पट और पगों से प्रसन्न प्रकट करने लगी। जगरूप ने देखा नाचनेवाली सुडौल थी। कटि, नितंब, उरोज उस राजपूती ड्रेस में घूँघट पट के बावजूद अपनी छटा अलग-अलग दिखला रहे थे। जगरूप को नाचनेवाली इतनी पसन्द आ गयी कि उसका मुख किसी-न-किसी

तरह देखने को उस मस्ती में वह उतावला हो उठा। उठकर आवेश से उसने नाचनेवाली का हाथ पकड़ लिया। नाचनेवाली फिर भी पावों से थिरकती ही रही। बिगड़ा लीलाधर भी नही; अलबत्ता उसने जगरूप को यह जरूर सुनाया कि---"गुरू! हाथ पकड़ा है तो शोभा और बड़ाई निभाने में है।"

"अबे हरामी!" न जाने कहाँ से मिस रोज़ कमरे में फट पड़ी, शराब के नशे में धुत्त, फटी-फटी आँखें "मैं बाहर नहीं गयी थी बेटे! दो स्टेशन आगे से लौट आयी थी यह जानने के लिये कि मेरी ग़ैर-हाज़िरी में तू क्या-क्या गुल खिलाता है। यह रण्डी कौन है?"

"ख़बरदार जो कच्ची ज़बान बोली—ज़बान खींचकर रख दूँगा।" लीलाधर ने तमककर सुनाया। इसी समय जगरूप की माई महादेवी क्रोध ने तमतमायी, हाथ में नारियल का झाड़ू लिये अन्दर से बाहर आ गयी और मिस रोज़ पर टूट ही पड़ी—

"डायन कहीं की! निकल मेरे घर से!"

महादेवी का उग्ररूप देखते ही रोज़ अगर तेज़ी से फ़्लैट के बाहर भाग न गयी होती, तो निःसन्देह अनगिनत झाड़ू उस पर बरसते। लेकिन इन सबसे जगरूप बहुत ही हतप्रभ हुआ। इस तरह मिस रोज़ के मुख़िल होने का अन्देशा तक उसे नहीं था। मिस रोज़ को देखते ही जगरूप के हाथ से नाचनेवाली का हाथ ऐसे छूट गया जैसे पुलीस वाले को सामने देख चोर के हाथ से पराया माल छूट पड़े। महादेवी रोज़ पर झाड़ू लेकर झपटी तो पर महादेवी थी (उसकी माई) कि वह नशे में भी सावधान रहा—धृष्टता से बचा। पर वहाँ रुका वह भी नहीं। शरीर के पीछे छाया की तरह वह रोज़ के पीछे ही नीचे उतर गया—यह भुनभुनाता हुआ कि—

"तुमने अच्छा नहीं किया। अब मैं तुम लोगों का मुँह भी जो कभी देखूँ।"

"बचवा ! भैया !" करुण महादेवी पुकारती ही रही पर जगरूप अबाध चला गया।

और अभागिनी वह नाचनेवाली कटे रूख की तरह धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ी।

: ३१ :

उक्त घटना के तीसरे दिन की बात है। दिन दो बजे लीलाधर के कमरे में जाकर रानी ने देखा अभी वह सो ही रहा था। कम-से-कम चार बार और वह आ कर देख गयी थी, एकाधिक बार को उसने उसको झकझोरे भी दिये; पर, पिछली रात स्टूडियो से क्या जाने क्या खा-पी कर लड़खड़ाता हुआ वह लौटा था और आते ही जो पड़ा सो पड़ा-ही-पड़ा था। रानी के चेहरे से करुणा और व्यग्रता फूटी-सी पड़ती थी—

"गुरूजी ! ओ गुरूजी !"

"क्या है ? कौन है ?" बारे इस बार लीलाधर का मुँह फूटा; उसने अँगड़ाई लेने की कोशिश तो की; पर देह उसकी, मानो अँकड़ गयी थी—

"उठिये ! —गुरूजी ! मैं आपके हाथ जोड़ती हूँ। हे मेरे राम ! दुनिया में क्या-क्या हो गया, और इनकी नींद ही नहीं टूटी ! गुरू जी !"

"सुन रहा हूँ महामाया !" लीलाधर अब अधिक चेतन्य था। "रात को स्टूडियो में सालों ने शरबत में शराब मिला दी थी—सारी देह टूट रही है मेरी। बात क्या है ?"

लीलाधर अजीब अदा से नाचता हुआ ललकार रहा था—

जहर है ! जहर है !!
सुनो यार ! फ़िल्म का रोजगार
क़हर है ! क़हर है !
धृकिट धा ! धृकिट धा !
धृकिट, त्रिकिट धा !
अनाचार का है यह ब्लैक-बाजार।
इल्म भी ब्लैक है, फ़िल्म भी ब्लैक है
सारा डेवलपमेन्ट डार्क—यार !
दुराचार का है यह ब्लैक-बाजार।
क़हर है ! क़हर है !
फ़िल्म का रोजगार
जहर है ! जहर है !
भारतीय-संस्कृति के प्राण सत,
फ़िल्मों की जड़-बुनियाद असत,
कुतियाँ इसमें पाली जाती हैं।
सतियाँ इसमें घाली जाती हैं।
धृकिट, धा ! त्रिकिट धा !
धृकिट, त्रिकिट, धा !
धर्म जाय भाड़ में ! कर्म जाय भाड़ में !
जनता की, तरुणों की शर्म जाय भाड़ में !
आये कलदार !
सौ जहाँ लगे वहाँ हजार !
ऋषियों का देश यह—धिग्-धिग् धा !
मुनियों का देश यह—धिग्-धिग् धा !
इल्म भी ब्लैक है
फ़िल्म भी ब्लैक है—सारा डेवलपमेन्ट डार्क—यार !

फ़िल्म का रोजगार
जहर है ! जहर है !
सातों सुरों के बीच इसमें असुर
(प्रोड्यूसर, डाइरेक्टर, डिस्ट्रीब्यूटर)
सेते हैं सुन्दरी-सुरा !
भाई रे, भलों ही से होता है बुरा !!
रहता चिराग़ ही के नीचे अँधेरा है !
प्रोड्यूसर, डाइरेक्टर, डिस्ट्रीब्यूटर
सब-के-सब अपराधी-ठन्डे हैं।
जाने राम...!
ये हराम-लीला के पंडे हैं।
खाना, पीना, जूआ—आदर्श मौज है,
सर फिरे फ़िल्म-कलाकारों की फौज है।
धर्म जाय भाड़ में ! कर्म जाय भाड़ में !
नीति का विधान, ज्ञान,
देश का भविष्य, वर्तमान जाय भाड़ में !
खानदान, सभ्यता, जहान जाय भाड़ में !
आये कलदार !
सौ जहाँ लगे वहाँ हजार !
ऋषियों का देश यह—धिग्-धिग् धा !
मुनियों का देश यह—धिग्-धिग् धा !

लीलाधर जब श्मशान पहुँचा तो उसे वहाँ आठ-दस भैये, जगरूप की माई, मिस रोज़ और जगरूप नजर आये और नज़र आयी आग पाने के लिए तैयार चिता पर प्रेमा की लाश। लेकिन उपस्थित लोग चिता के नहीं, जगरूप और मिस रोज़ के निकट थे। लीलाधर ने

देखा जगरूप की वृद्धा माई क्रोध और घृणा से भरी हुई उसको फटकार रही थी—

"तू तीन-तीन बार आदमी भेजने पर भी नहीं आया। बराबर कहलाता रहा कि शूटिंग चल रही है। ऐसी तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। अब बोल, तेरी नीयत क्या है? चिता को आग देगा या यह भी तुझ से न हो सकेगा? बोल, मैं कुछ भी सुनने को तैयार हूँ अभागे! बहू के साथ मैं भी मर चुकी हूँ। बोल, दाग़ देता है या 'पँचलकड़ियाँ' ही हो?"

"माई!" जगरूप ने सुनाया—"मेरा इस सबमें विश्वास ही नहीं है। मैं क्रिया करूँ, दस दिन घर बैठूँ, सर मुँडाऊँ, अपना धन्धा चौपट करूँ,—यह सब मुझसे नहीं होने का।"

"डूब मरो! गुरूजी, डूब मरो!" आगे बढ़कर लीलाधर ने कर्कश-कंठ से कहा—"किस तीर्थ के, किस कुल के, किस पद के होकर आप ऐसी बातें कर कैसे रहे हैं जैसी आपको करना नहीं चाहिये। नशा ने, इस नारी ने आपकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी है।"

लीलाधर अपना वाक्य पूरा भी न कर पाया था कि जगरूप ने तेज़ तड़ाकदार तमाचा उसके गाल पर जड़ा। साथ ही, निर्लज्जता से तमककर, उसने महादेवी से कहा—"तुमने बुलवाया था इसलिये शूटिंग छोड़कर मैं आया हूँ। मैं दाग़ नहीं देनेवाला—मुर्दा चाहे जैसे फूका जाय।"

इस पर श्मशान में उपस्थित सारे देसवासियों ने एक स्वर से कहा—"छिः! छिः! छिः!!" जिससे जगरूप और भी उत्तेजित हो उठा। उसने मिस रोज का हाथ पकड़कर खींचते हुए सुनाया—"चलो चलें—इस 'चिराइन' श्मशान में नशा मुर्दे-सा ठंडा हुआ जा रहा है।"

और वह बाहर की तरफ़ बढ़ा।

"अभागे! चाण्डाल!" अभिशाप के लहज़े में महादेवी ने कहा—"तू भी मरेगा। मैं कहे देती हूँ। तब तक मैं नहीं रहूँगी। और जब तू मरेगा तब तेरे भी मुहँ पर आग रखने को अपना कोई नहीं मिलेगा।"

हतभागिनी बुड्ढी क्या बक रही थी, बिना सुने ही जगरूप माशूका के हाथ-से-हाथ मिलाये हुए उसी निर्लज्जता से श्मशान बाहर चला गया जिस निर्लज्जता से परम पातकी, तीर्थ निकट पाकर भी, कायरता-वश बिना अवगाहन किये चला जाय। इस दृश्य ने जैसे श्मशान के वातावरण में और भी स्यापा भर दिया। लोगों ने देखा महादेवी जगरूप के जाते ही पीली पड़ गयी। लगा वह बेहोश होगी। पर, उसने स्वयं को बहुत सँभाला। फिर भी, वह खड़ी न रह सकी। तबतक परिस्थिति-परख पाँच पंचों ने मिलकर अभागिनी प्रेमा की चिता को आग दे दी। और आग दिव्य-जली जनाब! दुबली-पतली स्नेह-मयी प्रेमा की देह सर्व-दुःख-दाहनी आग में कपूर की तरह सुगन्धित जलने लगी। लीलाधर श्मशान में नाचने के लिये आया था; पर, वहाँ की कारुणीक-घटनाओं के प्रवाह में उसके पावँ उखड़ गये। वह एक स्थान पर बैठ गया और करुणा से भर कर कुछ गुनगुनाने लगा और गाने लगा;—किस समय कौन राग गाना चाहिये, यह मर्यादा भुलाकर श्याम या यमन कल्याण के समय वह भैरवी गाने लगा—

नैहर......छूटो......जाय !

बालम......मोरा...रे ! नैहर...छूटो...जाय !

लीलाधर ने इस विदग्ध-तन्मयता से गाया कि प्रेमा की लहकती हुई *चिता की लाल लपट भी वैसे ही स्तम्भित-सी नज़र आने लगी* जैसे वहाँ पर उपस्थित लोग करुणा से स्तम्भित थे। पश्चिम ओर दिवाकर डूब चुका था और क्षितिज की लाली ऐसी नजर आ रही थी मानो चिता जल रही हो। महादेवी की नज़र सहसा प्रेमा की चिता से पश्चिमा के आँगन में डूबते सूर्य पर पड़ती है। बहू मर चुकी; बेटा

अँगूठा दिखाकर रण्डी के साथ चला गया; उस बूढ़ी, कुलीना, काशी की ब्राह्मणी को महाश्मशान में छोड़ कर! वह—जिस पर महादेवी ने जीवन के रंगीन सपने सँजोये थे। लिखत सुधाकर लिखिगा राहू।

"बेटा!" चिता ठंडी हो जाने पर महादेवी ने गिड़गिड़ा और हाथ जोडकर लीलाधर से कहा—"अब इस परदेस में तुम्हारा ही सहारा है....।"

"मैं अभी जगरूप गुरू को कान पकड़कर आपकी सेवा में हाज़िर करता हूँ माताजी!"

"नहीं बेटा! उससे मैंने भर पाया। बहू मर गयी, मैं भी मर गयी। तुम मुझे बनारस पहुँचा दो। अब इस सोनापुर-नगर में एक क्षण भी ठहरने में मेरा दम घुटता है।"

"आप जो हुक्म देंगी—लीलाधर सर-आँखों बजा लायेगा। आप मुझे जगरूप ही मानिये माताजी! मैंने बम्बई देख ली। चना-चबेना गंग-जल, जो पुरवै करतार; काशी कभी न छोड़िये विश्वनाथ दरबार। मैं खुद काशी लौट जाने को व्याकुल हूँ।"

मालाबार हिल के फ़्लैट में लौटकर महादेवी तुरन्त ही बोरीबन्दर स्टेशन जाने को तैयार हो गयी। सामान के नाम पर, एक धोती और चादर के अलावा और दाम के नाम पर काशी तक के किराये के सिवाय उसने कुछ भी नहीं लिया। काशी से बम्बई आने के पहले बहू के, अपने और कुल-देवता के जबरदस्ती हड़पे हुए प्रायः लाख रुपये मूल्य के दागीने भी उसने उसी फ़्लैट में छोड़ दिये। अलबत्ता स्टेशन आने के पहले चाबियों का गुच्छा जगरूप के यहाँ एक विश्वासी व्यक्ति से उसने भेजवा दिया था। लीलाधर को भी स्टेशन तक ही उसने कष्ट दिया—"बेटा, टिकट दिलाकर गाड़ी में बैठा दो—मुझे जहाँ पहुँचना है, पहुँच जाऊँगी। जीते रहो।"

: ३२ :

"तो ?" ट्रेन चलते ही महादेवी विचार-सागर में निमग्न हो गई—"तो ? सारा घरौंदा बिगड़ गया ? ऐसा कि बनाये न बने। जैसे दैव ही प्रतिकूल हो गया हो। मिट्टी ही बन गई वह वस्तु जिसे करम-जली महादेवी ने छूया। यह मेरा भैया ही—लाख में एक लड़का—लेकिन देवाय-न-विप्राय; घर-का-न-घाट-का। जब सोचेगा उलटा ही सोचेगा। पर, ऐसा क्यों हुआ ? ऐसा तो किसी पाप ही से होना चाहिये ? पाप ? लो !" महादेवी को याद आया—किस तरह अनुचित उपायों से उसने बेटी व्रजरानी से जगरूप को पाया था। जगरूप का पिता तो, बराबर अपने घर ही रहा और व्रजरानी पेट-से हो गई थी। वह जानती थी कि जो कुछ हुआ उचित-विधि से नहीं हुआ था; पर, देवरानी के द्वेष या अधिकार के मोह में उसने ग़लत सन्तान प्राप्त किया था—"पाप ? पाप तो बुनियाद ही में था। कुल का होता तब तो कुलीनता दिखलाता ? यह तो 'राकस' है, दुष्ट-सन्तान है। यह बबूल—इससे रसालता की आशा ही मूर्खता है।"

महादेवी ने आँखें खोलकर देखा डिब्बे में बड़ी भीड़ थी; बड़ी गर्मी। वह पसीने से शल थी। थर्ड क्लास का डिब्बा, लंबी बोगी, सौ से कम आदमी उसमें शायद न रहे हों, लेकिन महादेवी इतनी अकेली थी—और असहाय—कि अकथनीय। वह अभी तक गोया श्मशान ही में थी। वह पुन: विचार-सागर-मग्न हो गयी—"इस कुलांगार के लिए, इस जारज के लिये, इस राकस के लिये उसने भगवान के घर चोरी की ! बिना काँपे, बिना डरे ! क्यों ? सोचा था भगवान तो पत्थर के हैं—मौन-मूक। वह चिल्लायेंगे थोड़े ही। अधम नारी ! भगवान जब आदमी से बोलते हैं तब उसीकी भाषा में बोलते हैं। जगरूप के रूप में भगवान बोले—जैसे जमराज, महाकाल बोले हों। लेकिन अन्तर्यामिन् ! तुमसे कुछ छिपा तो नहीं है। मैने अपने लिये नहीं, उसी जारज जगरूप के

लिये देवता के आभूषण चुराये थे। आख़िर में मैं उन्हें बंबई ही छोड़ती आयी हूँ। मोह होता तो संग लाती। जीवन के अन्तिम दिनों में सेठानियों-सी सन्तुष्ट रहती। पर, गहने तो जगरूप के लिये थे। जगरूप ही जब अपना नहीं, तब महादेवी का क्या जीना, क्या मरना। ओरी हतभागिनी! तू बाजी हार चुकी है। सो भी बहुत बुरी तरह।"

"अम्माँ, टिकेट तो दिखलाना!" टिकेट चेकर ने इस बार महादेवी को सचेत किया। उसके हाथ से टिकेट लेते वक़्त टिकेट कलेक्टर को उसकी अँगुलियों से अदृश्य ज्वाला की लपटें निकलती मालूम पड़ीं।

"अम्माँ, तुझे कहाँ जाना है? तेरे तो तेज़ बुख़ार चढ़ा हुआ है।"

"बुख़ार? नहीं बेटा, मैं ठीक हूँ। मुझे कुछ भी नहीं हुआ है।"

टिकेट कलेकटर ने टिकेट देखकर जाना कि वह काशी जा रही थी। महादेवी तो पुनः शून्यगत हो गयी थी। परन्तु पश्चात्ताप, पीड़ा उसकी जारी ही थी। उसे इसी स्थिति में ज़रा-सी झपकी आई तो सपने में उसने देखा कि भदैनी-भवन की ड्योढ़ी पर वह खड़ी है। साथ ही रामशंकर के परिवार के सभी प्राणी वहीं हैं और उसकी तरफ़ घृणा, तिरस्कार की दृष्टि से देख रहे हैं—"जा तू वहीं।" रामशंकर ने उसे दुत्कारा या उसकी पत्नी ने, महादेवी समझ न पायी। उसे केवल तिरस्कार-स्वर सपने में सुनाई पड़ा—"जिसके लिये तूने देवता तक की चोरी की—जा तू उसी के पास! यह घर तेरा नहीं है। निकल चोट्टी कहीं की!"

और सपने में महादेवी भदैनी-भवन के द्वार पर गिर पड़ी। उसकी आँखें खुल गई। क्योंकि वह सीट से नीचे गिर पड़ी थी। कई यात्रियों ने उसे सँभाला —"ऐं!" वह पुनः विचारों में डूबी—"भदैनी-भवन में मेरा स्वागत यों होनेवाला है? और क्यों न हो? मैं ऐसे ही व्यवहार की अधिकारिणी हूँ। तो? तो मुझे काशी पहुँचने पर भदैनी-भवन जाना भी चाहिए? कि? कि? फिर मैं जाऊँगी कहाँ? कहाँ जाऊँगी

मैं ? मैं इतनी बड़ी सम्पत्ति की स्वामिनी, मैं पंचित पण्डित रत्नशंकर की धर्मपत्नी;—कल तक सारी काशी के कुलीन मेरी आरतियाँ उतारते थे—मैं कहाँ जाऊँगी ? आज यदि वह—मेरे मालिक—होते तो मेरी ऐसी दुर्गति होती ? हर्गिज़ नहीं। बिना पतवार की नाव—बिना पति की औरत—सिवाय डूबने दूसरी गति नहीं।"

शायद पहले से ही यही निश्चित कर महादेवी ने बनारस छावनी का टिकट न कटाकर काशी का कटाया था। काशी स्टेशन राजघाट के पुल से सटा हुआ है। महादेवी ने पुल से पुण्य-पयोदा भागीरथी में छलाँग मारकर काशी में आत्म-हत्या करने का निश्चय किया था और अतएव उसने लीलाधर को बंबई ही छोड़ दिया था। सामान तो उसके पास कुछ था ही नहीं सिवाय चन्द रुपये और टिकट। सो, ट्रेन से उतरते ही भदैनी के लिये इक्का या ताँगा न कर वह धीरे-धीरे पुल की तरफ़ डगरी। फिर भी ज्यों-ज्यों पुल निकट आता जाता था, त्यों-त्यों महादेवी का मन आत्म-हत्या से कदराता जाता था। पुल पर पहुँचने के बाद एक स्थान से नीचे झाँकने पर उसे गंगा—माता नहीं—कालसर्पिणी-सी मालूम पड़ीं। उसकी रही-सही हिम्मत भी टूट गई—"मुझसे पुल पर से नीचे छलाँग ही नहीं मारी जायगी। बीच ही में फँस रही तो ? मुझसे ऊपर से नीचे कूदा ही नहीं जायगा। एक नहीं सात जन्मों में। पर ? पर ? स्त्रियाँ ऐसे नहीं जान दिया करतीं। वे तो गाढ़े वक्तों पर 'कुछ' खाकर सो रहती हैं। फिर न तो कूकर भूँकता है; न पाहरू जागता है। मैं भदैनी ही चलूँ। भदैनी मेरा घर है। मैं अपने घर में रहूँगी और जीऊँगी। मगर-मगर। भदैनी मैं जाऊँ भी तो किसके लिये ? वहाँ मैंने किसे अपना बना रखा है ? घर के देवता तक के तो आभूषण मैंने मोह-वश चुरा लिये थे। कि भैया का भला हो, वह फले, वह फूले। पर, अपना चेता कभी हुआ है—किसी का भी—कि महादेवी का होता ? पर, भदैनी-भवन जाकर अपना

उपहास कराने के अलावा वह क्या पायेगी। उसे तो गंगा ही में जाना मुनासिब है। भदैनी-भवन जायगी मानवती महादेवी? ग़लत बात। महादेवी! अब तो तुझे गंगा की गोद ही में मोद मानना मुनासिब होगा। तू सफल होगी—छलाँग लगाकर देख तो। तू उस पार पहुँच जायगी। काश्यां मरणे मुक्तिः—अभागिनी! कूद! मर! हर! हर! हर!"

साहस बटोरकर महादेवी पुल पर से गंगाजल में कूद ही पड़ी।

: ३३ :

मस्त-मुखी मिस रोज़ को भुजाओं में भर कर जगरूप चूमने की चेष्टा कर रहा था। बात मालाबार हिलवाले फ़्लैट की है जिसे कल ही महादेवी ख़ाली कर गई थी। फ़्लैट के उस कमरे में चारों ओर सामान बिखरा हुआ पड़ा था जिसमें एक बहुत बड़ा स्टील ट्रंक भी था। उसी पर रोज़ को भुजाओं में लपेटे जगरूप विलास-चेष्टा कर रहा था—

"मैं कहती हूँ नहीं!"

"बस एक 'किस'!"

"मैं कहती हूँ छोड़ दे मुझे! मैं तुझे पहचानती हूँ। जब तक ये दागीने सान्ताक्रूस नहीं पहुँचाये जाते—मेरी कबाड़ में नहीं रखे जाते—मैं तुझ से बात तक करने को तैयार नहीं। तू हरामी कहा करता है कि मुझ से लव करता है; पर, गहने देने की बात उठी तो तेरा चेहरा उतर गया। मतलबी! तू ले—रख ये गहने अपनी मैयत के लिये...।"

"कैसी बात बकती है—बेवक़ूफ़!" जगरूप ने सनककर रोज़ को चूम ही लिया जिससे वह औरत फनफना उठी—"ये हज़रत! जान से हाथ धोना पड़ेगा मेरे मन के ख़िलाफ़ खेलेगा तो। आज मेरा-तेरा

निपटारा ठहरा—इस पार या उस पार। तू रख इन दागीनों को साँप की तरह कुण्डलों के नीचे दबा कर। मुझे तो बख़्श।"

"मैंने कब कहा कि दागीने तुम्हारे नहीं? ले जाओ। मैं तो यह कह रहा था कि अपनी गाड़ी सफ़ाई के लिये बाम्बेगराज गई है। दागीनों की बात है, काफ़ी रक़म हैं—टैक्सी से ले जाना—।"

"मैं टैक्सी से ले जाऊँगी। तू बहाने न बना। यह बंबई शहर है—जंगल नहीं। न तेरा बनारस ही कि दिन-दहाड़े कोई लूट ले जाय।"

"यहाँ टैक्सी भी तुरन्त कहाँ धरी है। तबतक हल्ला मचाकर मुहल्लेभर को तुम पता कर दो कि जगरूप के फ़्लैट में ख़ज़ाना निकल आया है।"

"मैं टैक्सी ले आती हूँ—चौपाटी-स्टैण्डस से। पर, गहने मैं अभी ले जाऊँगी। बोल लाऊँ?"

"मैं नहीं कब कहता हूँ।"

सुनते ही मिस रोज़ खटाखट ऊपर से नीचे उतर टैक्सी की तलाश में चल पड़ी। तीनबत्ती पर एक भी टैक्सी उसे न मिली। लाचार वालकेश्वर रोड के नीचे चौपाटी की तरफ़ वह चंचल चली।

इधर मन से जगरूप उतनी बड़ी रक़म मिस मरियम रोज़ को देना कदापि नहीं चाहता था। उसने जो कुछ भी कहा था विवशता से। क्योंकि रोज़ के मोह-जाल में उसका मन जकड़ गया था। रोज़ के जाते ही स्टील ट्रंक से उठकर, उसे खोलकर जगरूप ने अन्दर का सामान ध्यान से देखना शुरू किया। उसमें जड़ाऊ गहने थे, उसमें सोने के वज़नी-वज़नी गहने थे, उसमें चाँदी के पसेरियों बरतन थे, उसमें कुछ नहीं तो लाख रुपये का माल था, उसमें जगरूप के प्रिय परिवार का सर्वस्व ही तो था। उतनी रक़म कमाना सबके लिये आसान काम नहीं था। रक़म मिस-रोज़ को दे दे—और जगरूप! भला ऐसा भी कभी हो सकता है। पर, ऐसा ही होने जा रहा है।

इसी समय नीचे हार्न सुनायी पड़ा। जगरूप ने झाँककर देखा कुसुमबेन अपनी गाड़ी से उतर रही थी। असिल में इन दिनों वह कुसुमबेन पर डोरे डाल रहा था। क्योंकि वह कुलीन और दुर्लभ एक्ट्रेस थी; युवती, सुन्दरी वगैरह तो थी ही। वह चलन की बद भी ऐसी नहीं थी। सो, जगरूप के हत्थे चढ़ ही नहीं रही थी। इधर रोज़ के कारण वह ठीक तरह से उस पर चारे भी नहीं डाल पाता था। वह तो एक ऐसा पिक्चर उसे डाइरेक्ट करने को कल ही मिला था जिसमें नायिका कुसुमबेन होनेवाली थी। अब जगरूप को भरोसा हुआ कि कुसुमबेन उसकी अंकशायिनी बनकर रहेगी। मगर मालाबार हिल वाला पता उसने कुसुमबेन को दिया नहीं था। आयी है तो फँसने आयी है—जगरूप ने सोचा—मिस रोज़ बिलकुल बासी, यह बिलकुल ताज़ी, वह अकुलीना, यह कुलीना—फ़ैशनवाली, अपटुडेट युवती। एकाएक जगरूप के मन में कोई बाँकी आइडिया आयी। ऐसी कि वह मन-ही-मन परम-प्रसन्न हो उठा। क्या वह आइडिया कुसुमबेन-विषयक थी? ना। वह थी उन दागीनों को मिस रोज़ के चंगुल से बचाने के बारे की।

"कुसुमबेन!" आते ही जगरूप ने कहा—"बड़े वक़्त पर आयीं। मेरा एक काम है, मैं एक बाक्स देता हूँ—उसे अपने घर ले जाकर रख दो। दो-एक दिनों बाद मैं ले लूँगा।"

"आप चलें मेरे साथ, वहाँ बापूजी हैं, जगह मेरे बँगले में बहुत है। है क्या बाक्स में?"

"पेंटिंग का सामान, दो-चार पत्थर की पुरानी मूर्त्तियाँ—यह सब वस्तुएँ मिस रोज़ के नज़दीक सुरक्षित नहीं हैं। दया करो, तुम मोटर पर चलो—मैं बाक्स लेकर आता हूँ।"

"अच्छा हो आप भी चलें। नहीं तो बापूजी यही सोचेंगे कि मैं अपनी सनक में फ़िज़ूल की चीजें बाजार से उठा लायी हूँ। नज़दीक ही तो मेरा घर है। नहीं तो बापू के नाम एक पुर्ज़ा ही लिख दीजिये।"

"यह मैं कर देता हूँ। तुम नीचे चलो। बाक्स और पुर्ज़ा लेकर मैं अभी आता हूँ।"

कुसुमबेन के नीचे जाते ही जगरूप ने स्टील-ट्रंक का सारा सामान चमड़े के एक बड़े बैग में उलट दिया और ट्रंक में पत्थर की शिला रख-कर उसे पूर्ववत् यन्त्रित कर दिया। इसके बाद कुसुमबेन के पिता के नाम उसने एक छोटा-सा नोट लिखा कि बाक्स उसका है जिसमें पेंटिंग का सामान और कुछ मूर्त्तियाँ हैं। इसके बाद चमड़े का बैग सावधानी से बन्द कर, ताला लगाकर, लेकर वह नीचे आया। सारी लेई-पूँजी लेकर कुसुमबेन जब आँख के ओझल हो गयीं तब जगरूप सन्तुष्ट-भाव से फ़्लैट में लौटा।

इधर टैक्सी तलाशते-तलाशते मिस रोज़ का विचार बदला। उसने सोचा—जगरूप के गहने बहुत हैं और यों उतावली में लेने से वह क्या जाने क्या समझे—अतः शिकार को हरी घास दिखलाकर फँसाना ठीक होगा।

सो, टैक्सी मिलते ही वह मार्केट चली गयी। वहाँ से उसने खाने-पीने की विविध सामग्रियाँ ख़रीदीं। मुर्ग़, मछलियाँ, अण्डे, क़ीमा, मटर की फलियाँ वग़ैरह। फिर चौपाटी के बैनली बार से उसने जॉनीवाकर विस्की का ब्लैक लेबिल बड़ा बाटल ख़रीदा। वह लौटी, तो उसके साथ का सरंजाम देखकर जगरूप हैरान हो गया।

"कहाँ तो तुम टैक्सी लाने गयी थीं—कहाँ यह सब सामान उठा लायीं!" नरम-स्वर से जगरूप ने कहा—"तुम्हारे मिजाज़ का चढ़ाव-उतार जानना इन्सान के लिये नामुमकिन है।"

"यह तो राह में मैंने सोचा...।"

"कि...?"

"कि जगरूप को मैं कितना सताती हूँ—फिर भी...।"

"वह ऐसा बे-ग़ैरत है...।" जगरूप ने वाक्य पूरा किया।

"ऐसा मेरा आशिक़ है...।"

"आशिक़ बे-ग़ैरत ही होता है...।"

"ग़ैरत, बे-ग़ैरत माई व्वाय !" रोज़ ने नमकीन-नख़रे से सुनाया—"बाज़ार के बटखरे हैं। मुहब्बत के व्यौहार में इनका वज़न ही बदल जाता है...।"

"तभी तो आशिक़ कहता है—जो सर प' रखने को मिल जाय हमें कफ़्शे-हुज़ूर...।

"कफ़्श माने क्या ?"

"कफ़्श माने—पादत्राण, पनही, जूते। जनाब फ़रमाते हैं—जो सर प' रखने को मिल जाय हमें कफ़्शे-हुज़ूर, तो यूँ समझलें कि यक ताजदार हम भी हैं। भला कोई ग़ैरतवाला ऐसा कहेगा ?"

"अच्छा तू नीचे से सोडे की बाटलियाँ पहले ले आ। एक-एक पेग लगाने के बाद खाना बनेगा। तगड़ा मुर्ग़ लाई हूँ।"

"ज़िबह कराके लायी हो ? मैं हलाल न कर सकूँगा। मेरे बाप से भी ऐसा न होता।"

"हलाल मैं कर लूँगी : मेरी माँ भी ऐसा किया करती है।"

जगरूप जब सोडा लेने नीचे गया, तो रोज़ ने पहले दागीने के ट्रंक की तरफ़ संदिग्ध-नज़रों से ताड़ा। निकट जाकर उसे उठाने की चेष्टा जो उसने की, तो बाक्स काफ़ी वज़नी मालूम पड़ा। "सोना-चाँदी है--दिल्लगी नहीं।" रोज़ ने उल्लसित होकर सोचा। उसकी आँखों के आगे उसका लेटेस्ट लवर—एक पंजाबी लौंडा आ गया जो गर्म-दिल होने पर भी निर्धन था। जगरूप को तो छोड़ना ही है। इसमें अब रस ही क्या धरा है। सो, इस धनराशि से उस ग़रीब पंजाबी के साथ शेष-जीवन गर्मागर्म बिताया जा सकेगा। मगर जगरूप छोड़ेगा इस धन को ? क्यों नहीं छोड़ेगा ? छोड़ेगा उसका मरा बाप। मिस रोज़ की आँखों में अब हब्शी जॉन का विकराल चित्र आया—जिसके पंजे प्रेत की तरह किसी का कण्ठ कसने को आतुर। वह ख़ुश हो उठी। उसका काम निर्विघ्न हो जायगा।

इसी निश्चिन्तता की मस्ती से लहराकर मिस रोज़ ने छुरा लेकर पावँ बँधे मुर्ग़ की तरफ़ देखा। ग़ुसलख़ाने में गला काटने के पहले वह मुर्ग़ मिस रोज़ को कभी जगरूप जान पड़ा कभी जॉन और कभी वह ग़रीब पंजाबी नौजवान।

सोडे की बाटलियाँ लिये जगरूप जब दादर पर था तभी उसे हलाल होते मुर्ग़ की विवश-चीत्कार सुनायी पड़ी—"कैसी कठ-करेजी औरत !" उसने सोचा मिस रोज के विरुद्ध। साथ ही, कुसुमबेन का नक़्शा उसकी नज़रों में नाच गया। लेकिन ऊपर आने और एक ही डबल पेग ब्लैक लेबिल जॉनीवाकर जमाने के बाद जगरूप की नज़रों में मिस रोज़ की सूरत चाण्डालिनी से चारु-मुखी बनने लगी। धीरे-धीरे क्षण-भर पूर्व का स्त्री का घिनौना बदन शराब के आवेश में परम-मोहक मालूम पड़ने लगा।

दोनों ने मिलकर विविध-व्यंजन तैयार किये। फिर निश्चय हुआ कि सिनेमा देखकर लौटने के बाद डिनर परसा जाय। रोज़ी ने जब यह चाहा कि जगरूप के गहनों में से एकाध को पहनकर सिनेमा चले, तो अन्दर-ही-अन्दर पोल खुलने के डर से दहलकर भी ऊपर से बिना मुँह बिगाड़े जगरूप ने बात बनायी—कि गहने अभी गन्दे हैं। बिना साफ़ कराये पहनने-क़ाबिल नहीं हैं। बारे मिस रोज़ ने हठ नहीं किया। उस दिन मिस रोज़ वही ड्रेस पहनकर सिनेमा गयी, जिससे जगरूप बहुत ही प्रभावित होता था। नाक पर दुष्टता लिये फिरनेवाली रोज़ उस दिन बहुत ही मृदु और सुष्ट और जगरूप के पक्ष में रही। यहाँ तक कि जानें कहाँ से पता सूँघकर जॉन जब सिनेमाघर में रोज़ के इन्तेज़ार में डटा मिला तब, सबके सामने, उसने उसके गाल पर तड़ातड़ कई चाँटे जड़े—"जानवर ! विहैवियर नहीं जानता ! हट सामने से !" जॉन सचमुच रोज़ पर जान देता था। नारी के चाँटों में दुराव से अपनत्व ही आशिक़ को अधिक लगा। वह चुपचाप वहाँ से टल गया। लेकिन जाते-

जाते जॉन ने जगरूप की तरफ़ देखकर तेज़-सी जो निगाह डाली उसे देखकर वह दहल उठा। फ़िल्म दोनों ने बाक्स में बैठकर—अकसर लिपटकर—देखी। लेकिन मालाबार हिल लौटकर उन्होंने जॉन को वहीं शराब के नशे में भयंकर पाया—"मैं इसकी जान लेकर तुझे उठा ले जाने को आया हूँ।"

"अबे जानवर, होश में आ! तू ऊपर चल।" जॉन का तिरस्कार कर रोज़ ने जगरूप से वहाँ से टल जाने को कहा। उसके जाते ही जॉन ने रोज़ को उठाकर अनवरत चूमना और हृदय से लगाना शुरू कर दिया। और रोज़ इच्छा या अनिच्छा से बर्दाश्त करती रही। जॉन के अन्दर जो राक्षस या दानव था उससे मन-ही-मन शायद वह डरती थी—

"मैं उस साले का ख़ून करूँगा।" जॉन ने सुनाया—"मैंने तय कर लिया है।"

"मेरे लिये तू जगरूप को मारकर बुद्धू! मुझे नहीं—फाँसी पायेगा। इसकी माँ एक बाक्स-भरा सोना-चाँदी छोड़ गई है। उसे मैं ले लूँ तब तू किसी का ख़ून करे या ख़ुशामद—तेरा काम। अभी तो तू यहाँ से चला ही जा।"

"तू मेरी बनेगी कि नहीं? एक दिन मैं तुझे अपनी बना लूँ इसके बाद जॉन न भी रहे तो जॉन को कोई पर्वा नहीं।"

"जानवर!"

"जानवर होता, तो सबके सामने जब औरत ने थप्पड़ मारे उसी क्षण उसे फाड़कर खा गया होता। मैं दिलवर हूँ।

"गोबर...!"

"गोबर सही; पर, तेरे सामने—भयंकर पीने पर भी—मैं सोबर हूँ। तू यह बतला कि मेरी बनेगी कि नहीं?"

"इसमें भी कोई सच है?" लीला से मिस रोज़ ने कहा—जिससे जॉन को सन्तोष हुआ नहीं।

"सच कहता हूँ...।" जॉन ने एकाएक तमककर सुनाया।

"पर कोई पूछता भी है ?"

"सच कहता हूँ...।" रोज को सीने से सटा कर दबाता हुआ वह बोला—"जी करता है इतनी जोर से दबाऊँ कि तेरी जान ही निकल जाय ताकि मुझे औरत के नशे से नजात मिल जाय।"

"औरत से यों नजात पाते ही—समझाया उसे जाय जिसके सर में दिमाग़ और दिमाग़ में भेजा हो, सरासर जानवर को कोई समझाये भी तो क्या—बेटे, औरत से नजात मिलते ही हथकड़ी से हाथ बाँधे जाते हैं, बेड़ी से पाँव और फाँसी से गर्दन। दिल्लगी नहीं है मुझ-जैसी औरत से नजात पाना। अभी तू मिहरबानी कर—जहाँ से आया है वहीं पधार। तीन दिन बाद फिर मिलना।"

"कहाँ ?"

"सान्ताक्रूस वाले बँगले में।"

"देख !" जाते-जाते निश्चयात्मक-स्वर में जॉन ने रोज से कहा—"जल्द-से-ज़ल्द तू मेरी औरत बन जा। नहीं तो, तेरी ख़ैर न मेरी ख़ैर। क्या कहती है ?"

"मैंने ना कभी कहा ? मैं तुझसे बाहर कब हूँ।"

जॉन के दूर चले जाने के बाद मिस रोज़ की जान-में-जान आयी—"सब की दवा है, पर इस जानवर का कोई इलाज मुझे नज़र नहीं आ रहा है। फिर भी, इस पशु की औरत बने वह जिसे जान देनी हो, ख़ुदकशी करनी हो। मैं पुलीस के फ्रैन्डों से इस जानवर के होश ठिकाने लगाऊँगी।"

उस दिन पीने में, खाने में और पीने-खाने के बाद की धूम-मस्तियों में जगरूप को जैसा आनन्द मिला, वैसा कभी नहीं मिला था। चूँकि जगरूप ने इतनी सारी सम्पत्ति दे डाली थी, अतः रोज़ ने भी दिल खोल कर उसको आज़ाद होने दिया। पिछली रात तक दोनों मधुर जागते

रहे। इसके बाद जगरूप को तो घनघोर निद्रा आ गयी लेकिन मिस रोज़ थोड़ी देर बाद कोई भयानक सपना देखकर जाग पड़ी। उसने क्या देखा कि स्टील ट्रंक में दागीनों की जगह पत्थर भरे हैं। सो घबराकर और अविश्वास से भरकर, जगरूप के सिरहाने से चाबियों का गुच्छा उठाकर, धीरे से उसने स्टील ट्रंक खोलकर देखा ही और उसके मुँह से एक चीख-सी निकल गयी। फिर भी, जगरूप उन्माद और भोग से शिथिल सोता ही पड़ा रहा। मिस रोज़ समझ गयी कि जगरूप ही ने माल कहीं टरका दिया था—"फिर भी, हरामी धोके में सारी रात लवर—प्ले करता रहा। इसका तो खून करना चाहिए। शैतान—सेन्टेड डेविल—है।" उसके मन में आया कि ट्रंक में से पत्थर की शिला निकालकर जगरूप के सर पर दे मारे। पर उसने अपने आवेश को लगाम दिया—"यह छल से तेरा खून पीता रहा तो मिस रोज, तू भी छल से इसका खून कर।" और उसे जॉन की याद आयी। चुपचाप ट्रंक ज्यों-का-त्यों बन्द कर, चाबी का गुच्छा जगरूप के सिरहाने धीरे से रख वह सो गयी। और सुबह यों जागी मानो कुछ जानती ही नहीं। जगरूप के सहारे पत्थर-भरे उस ट्रंक को मालाबार हिल से वह सान्ताक्रूस ले भी आयी। पर सान्ताक्रूस वाला बँगला उसने उसी पखवाड़े खाली कर दिया और शहर में मदनपुर मुहल्ले के निकट शिफ्ट कर गयी। यहाँ से वह बहुत आसानी से अपना उद्देश्य सिद्ध कर सकती थी, क्योंकि जॉन नयी जगह से बहुत दूर नहीं रहता था। नये मकान में वह अक्सर आने और जगरूप से मेल-जोल बढ़ाने लगा।

उन दिनों फ़िल्म-कंपनियों के मालिकों की चलती थी इस तथ्य को पिछले परिच्छेदों में युवतियों की छीछालेदर पढ़कर सहज ही समझा जा सकता है। बॉस लोग औरत की तो इज्ज़त वैसे लेते थे; पर, मर्द की आबरू कैसे उतारी जाती थी, इसकी भी एक बानगी पेश है। एक दिन जब जगरूप और मरियम रोज़ मौजों में बैठकर बीयर पी रहे थे

तब कोई परिचित चरित्र-नायक आया जो देखते ही खिन्न और दुखी मालूम पड़ता था।

"क्यों भाई काशीनाथ, आप आज उखड़े-उखड़े कैसे नज़र आ रहे हैं ?"

"मैं एक फ़रियाद लेकर आया हूँ।"

"फ़र्माइये—क्या आज्ञा है ?"

"मुझे राम सीनेटोन के मालिक गोकुलचन्द ने बेतरह बेइज़्ज़त किया है।"

"गोकुलचन्द का दिमाग़ ही फिरा हुआ है। एक फ़िल्म में उसने सेन्सर तक की पोल खोल दी थी। इससे सेन्सर बोर्ड गोकुलचन्द पर बहुत नाराज़ है। पानी में रहना और मगर से बैर पालना। गोकुल-चन्द सेठ की आँखों में चर्बी छा गयी है। तुम्हारे साथ उसने क्या किया...?"

"सेठ गोकुलचन्द मेरा जाति-भाई वाला है; यह दूसरी बात कि वह कंपनी का मालिक है और मैं मामूली एक्टर हूँ। सो, अक्सर मैं सेठ से कुछ निजी-ढंग से बातें करने—विशेषतः कुशल-क्षेम पूछने, फ़िल्म की कहानी और एक्टरों के चुनाव में राय ज़ाहिर करने में—सेठ के शुभ के लिए रस—लेता था।"

"तुम्हें यह मालूम था कि नहीं कि गोकुलचन्द ही नहीं उसका बाप मानिकचन्द भी मिजाज़ का झक्कड़ है। झक इनके खानदान ही में चली आई है।"

"इसका पता श्रीमान्," काशीनाथ ने रोआँसा मुँह बनाकर सुनाया "मुझे बहुत महँगा पड़ा। क्योंकि कटु अनुभव से जानना पड़ा।"

"भला,—हुआ क्या ?" बीच में रोज़ ने टोका—"मिस्टर काशी-नाथ, आपकी स्टोरी बड़ी ही दिलचस्प है।"

"मेरी शामत सवार थी," काशीनाथ ने सखेद सुनाया—"जो मैंने

गोकुलचन्द से यह कह दिया कि 'तिलस्मी बहादुर' के सिनैरियों में मेरा करैक्टर कुछ कमज़ोर है। बस—वह छूते ही तो, १०० वाट बल्ब की तरह भभक उठा—'तू क्या जाने कि सिनैरियो कौन-सी बला है? तू नौकर है—फ़र्माबरदार। जो हुक्म दिया जाय उसे बे-उज्र बजा लाना तेरा फ़र्ज है, सीधे मुँह बोलने लगा तुझसे तो तू सर ही पर चढ़ चला।' मुझे काटो तो ख़ून नहीं। मैंने पछतावा-भरे स्वर में कहा—'माफ़ करना गोकुलभाई!' पर, साँप कभी माफ करता है? गोकुलभाई ने नहीं माफ़ किया। क्योंकि मैं १५०) रुपये महीने का उसका नौकर था। दुष्ट ने पेड़ से बाँधकर मुझे सैकड़ों जूते लगवाये!"

"हा-हा-हा-हा!" जगरूप को काशीनाथ की दुर्गतिवाले सीन की कल्पना से ही बेसाख़्ता हँसी आ गई। लेकिन मिस रोज़ गंभीर रही—"गोकुलभाई बड़ा ही हरामी सेठ है। उसने मेरा भी ख़ून पीया है। पर—मिस्टर काशीनाथ! वह ख़ामख़ाह तुम्हें पीटने लगा?"

"नहीं, सिनैरियो में उसने एक सीन नया जोड़वा दिया। उसमें एक परायी स्त्री से मुझ से कहलाया गया कि मैं उसे चाहता हूँ—प्रेम मेरा सच्चा है। भले—वह परीक्षा ले ले। इस पर वह परीक्षा लेने को राज़ी हो गई। उसने कहा—अगर सच्चा प्रेमी है तो हाथ-पावँ बँधाकर पेड़ से उलटे लटकना मंजूर कर। मुझे मंजूर करना पड़ा। एक्टर डाइरेक्टर के हुक्म का ग़ुलाम होता है।"

"फिर क्या हुआ?"

"हुआ क्या—मुझे पेड़ से उलटे लटकाया गया। फिर उस औरत ने पर-स्त्री-कामी की कु-रुचि पर छोटा-सा भाषण देने के बाद चप्पल उतारकर फटाफट फटकारना शुरू कर दिया मेरे सर पर—एक गीत गाती हुई—लो मियाँ! बड़ी बाँकी छबीली की जूतियाँ। लो, लो मियाँ!"

जगरूप पुनः ठठाकर हँसा।

"आप हँसते हैं? साढ़े दस बजे सुबह से साढ़े दस बजे रात तक उस सीन का वह गाना रेकार्ड न किया जा सका। इधर करेक्टर एक्टर काशीनाथ के सर का एक-एक बाल नदारद!"

"जब असिल करेक्टर एक्टर आयेंगे—मेरा मतलब तैयार हो जायेंगे—तब तो ये धनिक बॉस उनकी दाढ़ी खुजलायेंगे; लेकिन आज, बेशक, दशा-दुर्दशा ही है।" जगरूप ने मंजूर किया।

"और—फिर भी—हरामजादे गोकुलचन्द को तुमने माफ़ कर दिया? मिस्टर काशीनाथ?"

"मैं चार बच्चों का बाप—माफ़ न करता तो क्या करता बाई? पर, मेरा रोआँ दुखित हुआ।"

"मेरे साथ ऐसा बर्ताव गोकुलचन्द ने किया होता..." रोज़ ने लाल होकर कहा—"तो मैंने तो हरामी के मुँह पर तेजाब फेंकवा दिया होता। मैं हर्गिज़ माफ़ न करती।"

अभी तुम्हींने कहा था कि गोकुलचन्द ने तुम्हारा लहू पिया था। क्या बना लिया उसका तुमने? महज़ गाल मारना और बात है; पर, असलीयत यही है कि औरत की आबरू और मर्द की इज़्ज़त इन मूज़ी मालिकों के हाथ में होती है। इसीलिये एक्टिंग को सलाम कर मैंने डाइरेक्टिंग अख़्तियार की—।"

"मैं पूँछती हूँ" मिस रोज़ ने तमककर जगरूप से पूछा—"कौन डाइरेक्टर है जो सेठों का 'पिप' नहीं है? जब सेठ लोग शराब पीकर मस्त हो जाते हैं तब डाइरेक्टर लोग मोटर लेकर एक्ट्रेसों के घर जाते हैं; किसी सीन के बहाने आबसीन इरादे से उन्हें स्टूडियो लाने।"

"जगरूप चुप रहा। मिस रोज़ ने काशीनाथ की तरफ़ परम सहानुभूति की दृष्टि से देखा—"चलो मिस्टर काशीनाथ! मैं आज तुम्हारे बच्चों को देखने चलूँगी।"

"मेरे बड़े भाग्य, बाई !" काशीनाथ सचमुच नेक-दिल गुजराती था।

काशीनाथ को लेकर रोज़ बाहर चली गई। जगरूप अकेले ही पीता रहा और सोचता रहा कि काश, इस ऐयारा औरत की जगह कोई नया माशूक़ सामने होता ! शराब बिना औरत, गुनाह बे-लज्ज़त ! इसी समय खटका पा उसने दरवाज़े की तरफ़ देखा तो एक जवान क्रिश्चियन छोकरी ! लेकिन वह अच्छी तरह खुश हो भी न पाया था कि युवती के पीछे ही जॉन नज़र आया।

"वह कहाँ है ?" जॉन ने पूछा।

"अभी-अभी कहीं चली गई हैं। बैठो। कुछ पीना है ?"

"इन्हें उनसे मिलना था। पूछती-पूछती यह मेरे घर आई" जॉन ने क्रिश्चियन युवती की तरफ़ संकेत किया—"तुम बैठो। वह आती ही होंगी। मुझे एक ज़रूरी काम है। मैं फिर आऊँगा।" जॉन युवती को जगरूप के निकट बैठाकर तुरन्त चला गया। अन्धे को क्या चाहिये? दो आँखें। शराब तो चढ़ी ही थी; वह जॉन की चाल में अविलंब आ गया। उसने उस युवती को शराब दी और युवती ने मंजूर कर लिया। बस सड़क खुल गई। पेग-पर-पेग चलने लगे। देखते-ही-देखते जगरूप उस अपरिचिता से आज़ादी लेने लगा। वह बड़ा प्रसन्न था कि रोज़ लौटी नहीं थी जिससे उसको युवती के साथ चितचाहा आचरण करने का मौक़ा भरपूर मिल रहा था। जगरूप अभी भी उसे छोड़ना नहीं चाहता था लेकिन मेकप और वस्त्र बिगड़ जाने का बहाना बनाकर कोई बारह बजे रात वह चली गयी।

उसके जाने के दस-ही-बीस मिनट बाद मरियम रोज़ आई और आते ही उसने जगरूप से पूछा—

"तेरा चेहरा काला क्यों पड़ गया है ? वह औरत कहाँ गई जिसे जॉन यहाँ छोड़ गया था ?"

"वह इन्तज़ार करते-करते थककर थोड़ी ही देर पहले चली गई।"

"मैं तो उसको जानती तक नहीं। अलबत्ता मेरी मामा कह रही थी कि आजकल आधीपगली कोई क्रिश्चियन युवती नौजवानों को बहकाने, ऐश करने के बाद ज़हर देती फिर रही है। वह बहुत गोरी थी?"

"थी तो...।"

"आँखें बड़ी-बड़ी?"

"वही-वही।"

"तूने उसे शराब पिलाई होगी—क्यों?"

"तुम्हारा मेहमान आये और ख़ातिरदारी न हो तो भी तुम नाराज़ हो, हो तो भी। पिलाता नहीं तो अपना सर फोड़वाता?"

"मेरे मर्द मेहमानों पर भी ऐसी ख़ातिरदारी तूने कभी बरसाई होती तो मैं मान लेती तेरी बात। जनाना हुई नहीं कि तेरा चटोर चित चहका। उसने कुछ खिला-पिला दिया हो, तो तेरे बीच में बुरी तरह मारी जाऊँ। मैं तो पुलीस में रपट लिखाने जा रही हूँ।"

"क्या...?"

"कि जगरूप ने मेरी ग़ैर-हाज़िरी में अनजानी औरत के हाथ से शराब पी है—कुछ हुआ तो मैं नहीं जानती।"

"फ़िज़ूल बके तो मत! वह नेक औरत थी।"

"नेक औरत की तारीफ़? यही न कि जो तेरी शैतानी प्यास में अपना गाढ़ा ख़ून उँडेल दे? तू मरेगा—मैं कहे देती हूँ।"

"तेरा संग पड़ा है, तो मरना भी न पड़े कहीं—अक्सर मुझे भी ऐसा सन्देह होता है।"

"अबे हरामी!" तक़रीबन दाँत पीसकर रोज़ ने कहा—"तू अपनी सूरत तो आईने में देख! तेरे मुँह पर जो ताज़ा अलकतरा चमक

रहा है, वह मेरी संगत में लीपा गया है ? तू मेरी राह से हट जा। मेरे घर से निकल जा। मुझे तेरी सूरत से नफ़रत हो गई है।"

जगरूप की बहुत दिनों से आदत हो गई थी, जब मिस रोज़ बुरी तरह बकने लगती तो वह आँखें बन्द कर सोने की कोशिश करता। आज तो आँख मूँदते ही नींद ने उसको धर चाँपा। दूसरे दिन दोपहर तक वह पलँग पर बेहोश ही पड़ा रहा। होश में आने पर उसे ऐसा महसूस हुआ जैसे भयानक ज्वर चढ़ा हुआ है। उसके रोम-रोम में दाह, सारी देह में पीड़ा प्रचण्ड हो रही थी। उठना चाहकर भी शिथिलता-वश वह उठ नहीं पा रहा था—

"डियरी !" उसने रोज़ को आवाज़ दी।

"वह स्टूडियो गई, मुझे यहाँ बैठाकर !" माराठा महरी ने कहा।

"महरी ? एक चाय तो बना दे।"

"घर में चाय-चीनी दोनों ही नही हैं।"

"तो बाज़ार से ले आ।"

"पैसे कहाँ हैं सेठजी ? पैसे ही लेने बाई स्टूडियो गयी है।"

"चाय नहीं, चीनी नहीं, पैसे नहीं—तब तू यहाँ मुझ से शादी करने के लिये बैठी है ? भाग यहाँ से !"

मराठा महरी बुरी तरह बुदबुदाती हुई भनककर चली गयी। पर, जगरूप को बड़ी तेज़ प्यास लगी थी—पानी कहीं नुक़सान न करे अतएव उसने चाय चाही थी। मज़दूरन के जाने के ज़रा ही देर बाद शक्ति सँभाल कर वह स्वयं उठा। धीरे-धीरे उस अलमारी के पास पहुँचा जिसकी छोटी दराज़ में मिस रोज़ अपने रुपये रखा करती थी। जगरूप ने दराज़ खोली तो उसमें सौ-सौ के रुपये के पन्द्रह और दस-दस के डेढ़-सौ नोट; तिरसठ खुले कलदार और साढ़े सात रुपये के चिल्लर नज़र आये—"ओह!" वह घृणा से भभक उठा—"इतने रुपये होने पर भी मेरे लिये (ऐसी हालत में भी) एक प्याली चाय के पैसे

नहीं थे! इस भुजंगिनी को कूड़ाखाने से उठा कर मैंने आसमान पर चढ़ाया—स्टार बनाया—तो इसका जहर और भी जान-मारू हो गया। साली—एक दिन मारे-मारे हन्टरों के तेरी खाल न खींच लूँ तो मेरा नाम जगरूप नहीं।"

उन नोटों को देख उसके मन में पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि उन्हें दियासलाई छुला दे। यह भी मन में आया कि नीचे से किसी को पुकार कर चाय मँगाये। पर, उस रक़म से चाय पीने से उसे विरक्ति हो गयी थी। फिर भी, प्यास असह्य हो रही थी। इसी द्वन्द्व और आवेग में ग़ुसलखाने में जा कर नल से मुहँ लगाकर उसने भरपेट जल पान किया और फिर बिस्तर पर आकर पड़ रहा! और पड़ा, सो पड़ा। नौ दिनों तक बिस्तर छोड़ने की नौबत नहीं आयी। वह जब होश में आया तब अस्पताल में था। नर्स उसके निकट बैठी थी। पूछना उसने उसी वक़्त बहुत कुछ चाहा; पर, नर्स ने इशारे से बोलने से वर्जा। वह ख़तरे के बाहर है डाक्टर से जान लेने बाद ही नर्स ने उसे बतलाया कि एक हफ़्ता पहले फ़िल्म एक्ट्रस मरियम रोज़ उसको अस्पताल में भरती करा गयी थी। पन्द्रह दिनों के लिये वह बाहर गयी हुई है। अभी भी एक सप्ताह बाद वह आये तो आये। तबतक जगरूप काफ़ी स्वस्थ हो जायगा। तीन दिनों बाद नर्स ने उसको यह बतलाया कि बेहोशी में वह, अक्सर, सार्थक-निरर्थक बकवास किया करता था। वह कहता था—माई मुझे माफ़ करो। वह प्रेमा का नाम लिया करता था—बारहा—और मूर्छा में भी रो पड़ता था—तुझे मैंने बहुत सताया, तेरी हत्या मैंने की। एक बार उसने मरियम रोज़ की याद भी की थी—रोज़ डीयरी, झूठ या सच हमने एक-दूसरे को प्यार किया है—मेरी जान! इस संबन्ध-सुधा में हलाहल न घोलो। मुझे मार कर मृत्यु के अलावा तुम अमृत भोगोगी। यह कपोल-कल्पना है। मैं प्रेत बनूँगा मेरी जान! तेरे गिर्द चकराऊँगा बवण्डर बनकर। नर्स क्रिश्चियन थी, बवण्डर के माने उसे नामालूम थे। सो

उसने पूछा—जगरूप से। लेकिन उसके उत्तर देने के पूर्व ही डाक्टर आ गया। जगरूप ने डाक्टर से यह जानना चाहा कि कब तक वह अस्पताल से मुक्ति पा जायगा—डाक्टर, मेरी फ़िल्म अधूरी पड़ी है। पूरी नहीं करूँगा तो बिजनेस सफ़र करेगा। मुमकिन है बॉस किसी और डाइरेक्टर से काम करा ले। ऐसी हालत में मुझे मिलनेवाली रक़म खटाई में पड़ जायगी। बारह हज़ार रुपये मेरे डूब जायँगे। डाक्टर ने आश्वासन दिया कि जल्दी ही वह अपना धन्धा अटेण्ड कर सकेगा।

इस वाक़या के छठे दिन मिस रोज़ अस्पताल में आयी। आयी क्या जगरूप को आत्म-हत्या का निमन्त्रण देने आयी। आते ही उसने सुनाया—

"तू यहाँ मर रहा है उधर बॉस दूसरे डाइरेक्टर से बात कर रहे थे। कि अधूरी फ़िल्म वह पूरी कर दे ताकि होली पर बम्बई में दिखाई जा सके।"

"किस डाइरेक्टर से चर्चा चलाई गयी थी ?" जगरूप ने अप्रसन्न प्रश्न किया।

"नाम मैं बतलाकर क्या करूँगी। क्या करेगा तू सुनकर। अरे यह तो कामनसेन्स की बात है कि फ़िल्म की शूटिंग बीमार के लिये रुकी नहीं रहेगी।"

"बड़ा हृदय-हीन व्यापार है, ना-शुकरा। आदमी भले ही मरता हो; पर, शूटिंग नहीं रुक सकती!"

"हा-हा-हा-हा!" रोज़ हृदय-हीन हँसी—"आदमी अपनी करतूत आसानी से भुला देता है। जब तेरी औरत मर गयी थी तब तूने शूटिंग छोड़कर उसका किरिया-करम किया था ? नहीं। अपनी औरत के परलोक से शूटिंग ज़ियादा ज़रूरी थी। वही शूटिंग आज डाइरेक्टर की जान से ज़ियादा ज़रूरी है।"

"उफ़ !" जगरूप ने सखेद सुनाया—"किसी की जबान ज़हर-बुझी-छुरी-जैसी होती है।"

"किसी के करम ही दोजख़-दाता हों तो कोई क्या करे। मैं तो हित की कहने आयी थी कि तेरी जयमाला ग़ैर के गले में डाली जा रही है। और तुझे लगती है मिर्ची। कल दूसरा डाइरेक्टर तेरी फ़िल्म पूरी करने—जुहू वाला सीन लेने—आउटडोर जायगा। साढ़े नौ बजे सवेरे। सीन में सारा काम मेरा ही है। कम्पनी ने मुझे तैयार आने की नोटिस दी है। कल तो नहीं—अब परसों मैं यहाँ आ सकूँगी।"

: ३४ :

दूसरे दिन काफ़ी सवेरे बिना डाक्टर-नर्स को सूचित किए जगरूप अस्पताल से धीरे से सरक गया। कई दिनों से उसे कुसुमबेन के पास धरोहर धरे हुए आभूषणों की बड़ी चिन्ता हो रही थी। सड़क पर आते ही सारे दिन के लिए उसने एक टैक्सी की और मालाबार हिल कुसुमबेन के यहाँ पहुँचा। वहाँ पहुँचकर वह खुश हुआ—खुशक़िस्मती पर—कि पिता-पुत्री दोनों ही बँगले पर थे। कुशल-मंगल के बाद ही उन्होंने परम-प्रसन्नता से जगरूप को उसका चमड़े का बैग दे दिया जिसे जगरूपने दोनों के सामने ही खोल कर देखा, तो उसमें दर-न-दागीने, चाँदी-न-सोना। था उसमें पेंटिंग का नया-पुराना सामान। कनवास, काग़ज़, कलर, ब्रश, दो-तीन पत्थर की मूर्त्तियाँ (बुद्ध और विक्रमादित्य के बस्ट) तथा एक किसी वैदिक देवी की मूर्त्ति !

"लेकिन कुसुमबेन !" हैरान-भाव से जगरूप ने कहा—"इस बाक्स में तो मेरे घर के आभूषण और सोना-चाँदी के बर्तन वग़ैरह थे।"

"मतलब ?" कुसुमबेन ने रूखा-सा प्रश्न किया।

"मतलब यह कि मैं अस्पताल से सीधे आपके यहाँ चला आ रहा हूँ—हैरान मुझे न करें।"

"मतलब ?" कुसुमबेन के मुँह में एक ही शब्द।

"मतलब यह है कि मैं मर जाऊँगा अगर आप लोग मतलब-मतलब ही करते रहे।"

"लेकिन मिस्टर जगरूप !" अब कुसुम का बापू बोला—"आप मज़ाक़ करना ख़ूब जानते हैं। सो भी परफ़ेक्ट एक्टिंग के साथ। आख़िर फ़िल्म-डाइरेक्टर ही ठहरे।"

"पापाजी...?" जगरूप ने हैरान प्रश्नवाचक रूप दिखाया।

"पाजी...! मेरे सामने मेरी लड़की से ग़लत ढंग से बातें कर रहा है। एक तो तेरा कबाड़ हमने सँभाला ऊपर से यह चारसौबीसी ? सीधे से बँगले-बाहर चला जा। नहीं तो हण्टरों से मारकर बाहर करूँगा।"

"पापाजी, इस तरह मेरी रक़म आप हज़म नहीं कर सकते।"

"रक़म के बच्चे !" कुसुम के बापूजी ने जगरूप को धक्का दिया—"पहले बँगले बाहर जा और फिर जो तेरे मन में आए कर—यह भूलकर कि तेरे हाथ का लिखा पुर्ज़ा मेरे पास है।"

जगरूप ने महसूस किया कि ज़रा भी रुका कि पिटा और बुरी तरह —अगर सीधी तरह 'गेट आउट' नहीं हो जायगा। लाचार, निहायत खट्टे-मुँह वहाँ से खिसक खिसियाकर उसने पहले पुलीस में रपट लिखवाने का इरादा किया, लेकिन दूसरे ही क्षण उस पुर्ज़े का ध्यान आया जिसमें उसने स्वयं लिखा था कि बैग में पेंटिंग का सामान और चन्द मूर्त्तियाँ हैं। उस पुर्ज़े को देखकर दुनिया उसे ख़ब्ती छोड़ और क्या कहेगी। फिर साढ़े आठ बज रहे हैं। पहले स्टूडियो पहुँचे बिना वह धन्धा भी हाथ से जायगा और बम्बई में खिचड़ी के भी वांधे पड़ जायेंगे।

जगरूप को समय पर स्टूडियो में उपस्थित देख बॉस बहुत खुश हुआ—"चार दिनों की शूटिंग है—हद-से-हद। क्यों ?" मालिक ने जगरूप से पूछा।

"आप मुझे हिसाब में हज़ार रुपये दे दें, तो मैं दिन-रात एक कर चार दिन का काम दो ही दिन में कर सकता हूँ।" जगरूप ने कहा।

"रुपयों ही के लिए तो पिक्चर रिलीज़ करने की मैं उतावली कर रहा हूँ। चार दिन का काम चार दिन में हो—लेकिन पिक्चर सौ-टके पास जाय। आपके रुपये होली बाद मिलेंगे।"

"अरे सेठ !" जगरूप ने विवश-वदन बनाया—"मैं तो ढेर हो जाऊँगा, मेरी जेब में एक लालडेड़िया भी नहीं है और मैं अस्पताल से आपके काम के वास्ते डाक्टर, नर्स और स्वास्थ्य को भुलावा देकर आया हूँ।"

"आज कंपनी में एक ढिड़की भी नहीं है। फिर भी मैं अपनी जेब से आपको सौ रुपये देता हूँ—पिक्चर जल्द तैयार हो।"

सौ रुपये का नोट जगरूप ने बॉस के हाथ से यों नोच लिया जैसे परम-प्यासा पानी की एक बूँद लपककर चाट जाय। उसी वक़्त एक्टरों और मेशीनों के साथ वह जुहू रवाना हो गया। वहाँ पहुँचते ही उसे प्यास लगी या ताड़ी की दूकानें देख आदतन मन ललचाया और प्यास बहाना बनकर आयी, कहना कठिन है; पर, दो गिलास ताड़ी जगरूप ने डटकर पी ली।

सच तो यह है कि अभी उसे पन्द्रह दिन अस्पताली ही में रहना चाहिये था; दिमाग़ और देह पर बोझ बिलकुल नहीं डालना चाहिये था और आउट-डोर शूटिंग के लिये नहीं आना चाहिये था। कैसी तेज़ हवा जुहू तट की। ताड़ी तो उसे हर्गिज़ नहीं पीना चाहिये था। लेकिन शूटिंग के दरमियान जब मिस रोज़ ने उसे बहुत बुरे ढंग से यह सुनाया कि "तू डाइरेक्टर नहीं, हज्जाम है।" तब उसका मूड बिलकुल ही बिगड़ गया। फिर भी, शूटिंग तो करनी ही थी। चाहे बुख़ार ही

क्यों न चढ़ बैठे—"मुझे फिर बुख़ार होगा क्या ?" उसने अपनी नब्ज़ देखी मगर नब्ज़ देखना उसे आता कहाँ था। उसने अपना माथा स्पर्श कर ताप जानना चाहा। उसे लगा माथा कुछ विशेष गरम था। माथा गर्म है जानते ही जगरूप को कँपकँपी छूट गयी। वह गिरना नहीं चाहता था, पुनः बीमार पड़ना नहीं चाहता था, क्योंकि, शायद, वह जानता था कि इस बार गिरा कि गिरा।

एक शराबी एक्टर से लेकर घट, घट, घट, आधा बोतल ठर्रा वह पी गया—कि गिरे नहीं। 'शराब ने मुझे सँभाला"—बेशक—उसने सोचा यह शराब भी अमृत है। यानी मृत में भी जान डालनेवाली है। सुरा की सहायता से उसमें आसुरिक शक्ति आ गई और दो दिनों तक उसने या तो फ़िल्म की शूटिंग की, या शराब पी, या सोता रहा। इसी आवेश में चार दिनों का काम दो ही दिनों में उसने कर डाला। लेकिन दूसरे दिन शूटिंग करते-करते बुख़ार से व्यग्र होकर वह जुहू की रेतों पर गिर पड़ा। और गिरते ही उसकी आँखों के आगे अस्पताल का नज़्ज़ारा नाच उठा—चारों तरफ़ रोगी, चारों तरफ़ चीख़, कराह। एक दिन तो उसकी ठीक बग़ल का रोगी मर गया और देर तक वह मुर्दे के पड़ोस में पड़ा रहा। अस्पताल उसे सरासर यमालय मालूम पड़ा। इतने में मिस रोज़ की परिचित, तीखी आवाज़ उसके कानों में पड़ी—

"जिस्म में ताक़त नहीं, पीयेगा तो जनावर की तरह। मैं पूछती हूँ नशे में डाउन होकर भी कोई पिक्चर डाइरेक्टर कर सकता है ? यह डाइरेक्टर नहीं हज्जाम है।"

जगरूप के मन में पुनः आया कि उस कटु-मुखी औरत को हंटरों से पीटे; पर, उसमें करवट बदलने तक की ताक़त नहीं थी। फिर भी उसने जो कोशिश की तो, ज़रा उठते ही—उसे उलटी होने लगी। नज़-दीक खड़े सभी शौक़ीन एक्टर दूर भाग चले। सबसे आगे मिस रोज़—

नाक दबाये। जगरूप की क़ै में ताड़ी, शराब, मवाद और ख़ून। वह बेहोश हो गया। होश में आने पर उसे महसूस हुआ कि वह अपनी ही ब्यूक गाड़ी में मिस रोज़ के साथ जा रहा है—कहाँ ? अस्पताल ? अस्पताल का ध्यान आते ही वह पुनः काँप उठा—

"हाथ जोड़ता हूँ, डियरी !" उसने हाथ जोड़कर मिस रोज से कहा—"आख़िर हमने एक-दूसरे को प्यार किया है। मैं अस्पताल में मरना नहीं चाहता। मुझे अस्पताल नहीं, मेरे फ़्लैट पर ले चलो।"

फ़्लैट में यानी मदनपुरा के निकटवाले घर में पाँच दिनों तक वह पड़ा रहा। मराठा महरी पर जगरूप की तीमारदारी का भार छोड़ मिस रोज़ या तो स्टूडियो में रहती या उसी घर के दूसरे कमरे में उस पंजाबी लौंडे के साथ पीती, खेलती-खाती थी। मुश्किल से कभी एकाध बार वह उसके कमरे में जाती थी। जब भी जाती स्वास्थ्य-प्रश्न शायद ही करती। वह बराबर यही जानना चाहती कि उन आभूषणों का उसने क्या किया। पर कोई काम-क़ाबिल उत्तर न पाकर उसको कोसती हुई लौट जाती। एक दिन तो हद ही हो गयी। पूछने पर जगरूप जब गहनों का पता नहीं बता सका तो पंजाबी लौंडे को बुलाकर उसके सामने ही वह चूमने-लपटाने लगी।

उस दिन जगरूप को गुरु माननेवाला कोई एक्टर जब उसको देखने आया, तो जगरूप ने उससे आग्रह किया कि वह उसी समय उसको अस्पताल ले चले। उस घर में उसे नारकीय-यातना मिल रही है। एक्टर सहृदय था और मिस रोज़ को जानता था अतः अविलंब उसने गुरु की आज्ञा का पालन किया। मिस रोज़ स्टूडियो में थी जब—जैसे जान बचाकर जगरूप जागते श्मशान अस्पताल में भर्ती हो गया। औरत और अस्पताल में अब उसे अस्पताल अधिक आशा-प्रद लगा। जैसे तवा और आग में किसी को आग अधिक अच्छी मालूम पड़े।

सर्वथा भस्म कर सर्व-दुःख-निवारण कर देनेवाली सेंक-सेंककर सुख से जलानेवाले तवे की तुलना में।

: ३५ :

"फागुन के दिन चार !" घोर-ज्वर में जागता हुआ जगरूप सोच रहा था—"चार ही दिन बाद होली का त्योहार पड़ेगा। क्या ? फागुन के (जीवन के) चार ही दिन और रह गये ? और नहीं तो क्या। चार नहीं तीन। तीन नहीं पाँच। अब यह अधिक दिनों हर्गिज़-हर्गिज़ नहीं जी सकता। देह हड्डी-चमड़े का ढाँचा मात्र रह गयी। आँखें निस्तेज हो गयीं। क़ै में खून-मवाद पसरों जाता है। प्राण यातनाओं से प्रपीड़ित हो रहे हैं। और नजदीकी, अपना कोई नहीं। अपना ? अपने का उच्चारण क्या है ? अपने की परिभाषा क्या है ? जगरूप तू जानता है ? तू अपनों को छोड़कर बनारस से बंबई आया था केवल अपने सुख के मोह में तो ? जल्द-से-जल्द नवाबी-मज़े लेने। ऐसी कमाई करने जिससे ज़िन्दगी इन्द्रसभा नाटक की तरह बराबर रंगीन बनी रहे। देख तो तू अपनी देह ! देख तो तू अपनी सूरत ! ओरे आत्म-पोषी ! महज़ अपने को चाहनेवाला कहाँ-से-कहाँ पहुँचता है देख तो ! तू काशी में, कुल में, कुलीनता की सीमा में रहता तो क्या तेरी ऐसी गति होती ?"

उसे याद आया—जब उसने प्रेमा का दाह-कर्म करने से इन्कार किया तब उसकी माई ने झल्लाकर शाप दिया था। शाप जिसका एक-एक अक्षर उसके आगे आया—"तो ? क्या ? मैं बुरी तरह मरूँगा और मुझे भी कोई दाग़ देनेवाला नहीं मिलेगा ? तो क्या जीवन-क्षेत्र में जो

जैसा बोता है अवश्यमेव काटता भी वही फसल है ? प्रेमा ! माई !" वह जोर-ज़ोर से पुकारने लगा। मारे भय के वह अर्ध-मूछित हो गया और दिवा-स्वप्न देखने लगा—कि होली का दिन है। बंबई शहर में चारों ओर अबीर, कबीर, आनन्द, उल्लास का कोलाहल मचा हुआ है। जिसके देखो उसी के कपड़े रंग से सराबोर, गाल गुलाल से लाल हैं। लोग, लुगाई, लड़के हँस रहे हैं, गा रहे हैं, नाच रहे हैं, गले मिल रहे हैं—वाह, वाह ! इस रेले-मेले में मैं भी हिल जाऊँ, मिल जाऊँ अखिल-वातावरण-व्यापी-खुशी से खिल-खिल—खिल जाऊँ।

"लेक...लेक...!" ये लोग मुझसे दूर क्यों भागे जा रहे हैं ? मेरी तरफ़ त्रस्त-नेत्रों से देख क्यों रहे हैं ? गोया मैं आदमी नहीं, प्रेत हूँ। पिशाच हूँ। ओ बच्चो ! ओ मुन्नो ! ओ मुनियाँ ! तू मुझसे होली खेल मेरी बेटी ! क्या कहा ? मैं प्रेत हूँ ? हत्या ? किसकी हत्या किसने की ? जगरूप ने, अपनी धर्मपत्नी की, श्रद्धेया माई की। झूठ। वह कोई और जगरूप होगा। मैं हत्यारा नहीं—आर्टिस्ट हूँ। फिल्म डाइरेक्टर, नाटक-कार, चित्रकार, मूर्तिकार, क्या कहा ? क्या कहा ? मैं आईने में अपना मुँह देखूँ ? क्या हुआ है मेरे मुँह को ? मेरा मुँह हज़ार में एक नज़र आनेवाला माडल। बड़े-बड़े बाल, फूले-फूले गाल—विवेकानन्दी-धाज। ओ मुनियाँ अपनी पिचकारी का रंग मेरे पहरन पर डाल दे रानी! मैं ज़रा से रंग बिना घुटा जा रहा हूँ। रंगीन तबीयत, रंगीन मिजाज मैं—ओ रंगीली बेटी ! अरे-अरे तू भी भाग गयी। ज़रा इस तमोली के दर्पण अपना मुँह तो मैं देखूँ।—अह ! यह मेरा मुँह है या अमरीका के फ़िल्मी राक्षस फ़्रैन्कन्स्टीन का ! तभी तो वह मुनियाँ जान लेकर भाग गयी। यह तमोली की दूकान सिनेमा-घर की बग़ल में है। कौन सिनेमा-घर है। विष्णु सिनेमा ? 'रंगीन ज़िन्दगी'। अरे यह तो मेरी ही लेटेस्ट है। तो कंपनीवालों ने एडिट-सेन्सर के बाद तस्वीर लगा दी बाज़ार में ? पर, डाइरेक्टर की जगह किसका नाम है ? कुछ साफ़

नजर नहीं आ रहा है। जमान...ईरानी ? जमान...ईरानी तो बॉस का साला है। वह साला डाइरेक्शन क्या जाने। इस पर मेरा नाम क्यों नहीं है ? शायद मुझे मरा हुआ मानकर कंपनीवालों ने मनमानी कर डाली है। ओह ! यारों ने मुझे जीते ही मार डाला! गहने कुसुमबेन के कट्टे लगे, डाइरेक्शन के रुपये कंपनी मालिक के, पिक्चर का यश साले जमान ईरानी के। इसे कहते हैं जिन्दगी का पतझाड़। पत्ता-पत्ता झड़ गया। ठूठवत मैं रह गया। सो भी उस पेड़ का जिसकी लकड़ी जीवनदाता चूल्हे में नहीं, नरकदायी चिता में जलाई जाती है। जगरूप ! ले सुख ! दुनिया में सुख धरा है तेरे लिये—अविवेकी !"

: ३६ :

जिस वक्त जगरूप की लाश अस्पताल के मुर्दाघर में रखी जा रही थी—साढ़े दस बजे रात—उसी वक्त मिस रोज पंजाबी लौंडे के हाथों उसकी गोद से पंजाब मेल के फर्स्टक्लास के बर्थ पर लिटाई गयी। डिब्बा छोटा था और यात्री दो ही—बम्बई से ही वे मजे में पीते, तरह-तरह से किलोलें करते आ रहे थे। गाड़ी बम्बई से ९ बजे रात चली थी। यानी वे डेढ़ घंटे से ट्रेन में थे। बर्थ पर लिटाते ही पंजाबी तरुण ने देखा कि रोजी का चेहरा एकाएक सुफ़ेद पड़ गया, उसकी सारी गर्मी ही झड़ गयी, वह बिलकुल ठण्डी पड़ गयी।

"क्या बात है, मेरी जान !" पंजाबी युवक ने कारण जानना चाहा।

"जॉन !" तेजी से उठती हुई, पंजाबी के पीछे देखती हुई रोज ने कहा—" डिब्बा तो लॉक्ड है—तू कैसे आया ?"

"मैं तुझे दोजख तक छोड़नेवाला नहीं राँड़! जगरूप की जान मेरी तर्कीब से लेने के बाद अब तू मुझे ही अँगूठा बताकर लाखों के दागीनें उड़ा कर भागी जा रही है! डिब्बा लाक— बन्द है, ठीक है। मैं दूसरे ग़ुसलख़ाने में पहले ही से था। हट बे—हरामज़ादे!"

धक्का खा कर पंजाबी ने जाना कि डिब्बे में कोई और भी था—और निहायत भयानक, बहुत मज़बूत शख्स—काला आबनूस हब्शी। कुछ धक्के से, कुछ नशे से, कुछ भय से, पंजाबी तो भोंड़िया कर गिर पड़ा लेकिन मिस रोज़ के चेहरे पर क्षरणेक में ही पुराना रंग पुनः आ-गया। उसने परिस्थिति की प्रचण्डता भाँप कर स्वयं को खूब ही सँभाला—

"भागी जा रही हूँ तेरी जागीर लूट कर? तूने दारू तो नहीं पी है।"

"पी है और खूब पी है।" कह कर जॉन ने जानवरी-जोश से रोज़ को दोनों भुजाओं में कस अपने पत्थर की तरह सीने से दबाया।

"मेरी पसलियाँ चूर करेगा, हरामी?"

"आज मैं तेरी बोटी-बोटी से अपनी हविस पूरी करूँगा। बद-ज़ात! कितने मर्दों का ख़ून तू कर चुकी?"

"जितने हरामियों ने मेरा ख़ून पिया—ख़ून का बदला ख़ून ही होता है। तू मेरा ख़ून करना चाहेगा तो मैं तुझे छोड़ दूँगी?"

"ज़रा-सी तो तेरी जान है—शैतान की बच्ची! सीने से ही दबा दूँ तो चकनाचूर नज़र आये।"

और जॉन ने पुनः रोज़ी को जानवर की तरह दबोचा जिससे उसे निश्चय हो गया कि एक पल भी विलंब होने से परिणाम कुछ-का-कुछ हो सकता है। और वह ठठाकर हँसी—"लो! मिस्टर बटकल—लो!"

बटकल बम्बई का विख्यात पुलिस अधिकारी था जिसके साहसिक कार्यों की कहानियाँ कही जाती थीं। गुण्डे और समाज-विरोधी-तत्त्व

उससे काँपते थे। बटकल का नाम सुनते ही जान का कठोर-भुज-बन्धन एक बार शिथिल पड़ गया।

"हा हा हा हा !" एक्ट्रेस रोज़ पुनः हँसी—"बटकल का नाम सुनते ही हवा खिसक गयी—क्यों बे जानवर ! मैं कहती हूँ लंबे लोग फ़ूल होते हैं और तू तो डैम-फ़ूल तक लंबा है।"

"बटकल तेरा कौन है ?"

"तू मेरा कौन है ? हरामी ! मेरी ज़िन्दगी सँपेरा का पिटारा है—जिसमें एक-से-एक साँप, बिच्छू, बिसखोपड़े। बटकल को दारू के नशे में रेल के पायदान पर खड़े-खड़े चलने में मज़ा आता है। डिब्बा लाक्ड है, मैंने झूठ कहा था। देख ले तू। इसी डिब्बे से सटे डिब्बे के पायदान पर इन्सपेक्टर बटकल न हो तो तेरे दाँत, मेरी नाक। काट लेना।"

"काटूँगा तो मैं तेरी बोटी-बोटी !" कहता जॉन रोज़ को छोड़ गाड़ी के दरवाज़े की तरफ लपका—उसके कथन की सच्चाई जाँचने। सिटकिनियाँ खोल, दरवाज़ा खोल उसने रोज़ की तरफ़ देखा जो अभी बर्थ ही पर पड़ी-की-पड़ी थी। अब ज़रा बाहर की तरफ़ निकल कर झुक कर वह देखने लगा, खुला दरवाज़ा उसकी जकड़ में। लेकिन उसने बाहर झाँका ही था कि पीछे से एक प्रचण्ड धक्का उसे ऐसा लगा कि उसके पाँव उखड़ ही गये। साथ ही, हाथ से डब्बे का द्वार छूट गया। जॉन लड़खड़ा कर तूफ़ान में सूखे पत्ते की तरह ट्रेन से नीचे गिर ही नहीं पड़ा, कई टुकड़ों में विभक्त भी हो गया। रोज़ ने बिजली की तेज़ी से डिब्बे का दरवाज़ा बन्द कर लिया। उसका दिल इस क़दर तेज़ धड़कने लगा कि एक बार उसे हार्ट फ़ेल हो जाने का भय लगा। ज़रा सँभलते ही पहला काम उसने डबल पेग दारू पीकर किया; जो था बेहोश-प्राय पड़े पंजाबी की दुम पर कस कर दो लातें लगाना—"साले, नामर्द कहीं के !"

सँभल कर युवक ने अभी भी डरते-डरते और इधर-उधर देखते-देखते कहा— "आदमी क्या पूरा शैतान था ! कहाँ गया ?"

"गया जहाँ उसे जाना था। पर, तू मर्द नहीं है। माना वह मजबूत था; पर, हमलावर को देख कर बेहोश हो जाना तो निहायत बुज़दिली है। देखने को संड-सी देह साले की; पर, सीने में कलेजा है चुहिये का। तू चींटी पर हमला करके देख कि वह बेहोश होती है या हमला करने वाले का शक्ति भर सामना करती है।"

इतनी लानत-मलामत के बावजूद जॉन से जान कैसे बचायी यह भेद रोज़ ने पंजाबी युवक को नहीं बतलाया; यह सोच कर कि ऐसे का क्या भरोसा। कब सबूत-पक्ष का चश्मदीद गवाह बन जाय और उसे न्यायालय के कटघरे में परम दंड पाने के लिये खड़ी होना पड़े। कहते हैं मिस रोज़ आजतक दण्ड से बची हुई है, गो युगों पहले वह फ़िल्म-लाइन से ठुकरायी जा चुकी है। अब वह बाँदरा के किसी क्रिश्चियन होटल की बावर्चिन है। हो चुकी है पचास ऊपर की; पर, नाटी औरत होने से अभी गलितांगी नहीं कसो बॉडी वाली है। अक्सर वह मूड में आने पर अपनी जवानी की कहानियाँ दूसरे बावर्चियों को बड़े शौक़ और तपाक से सुनाती है।

मिस रोज़ दण्ड से बच गयी ऐसा जो कहते थे उन्होंने इस तथ्य पर ग़ौर किया होता तो ज़रूर उनका समाधान हो जाता कि जिसका सारा जीवन ही दण्ड—अभिशाप--की तरह रहा हो उसके कपाल में न्यायालय का कटघरा न लिखा जाय तभी न्याय होगा। पंजाबी युवक को त्याग कर जब मिस रोज़ दिल्ली से बंबई लौटी—उसी दिन पुलीस वालों ने उसे दबोच लिया था। क्योंकि ट्रेन से कटकर मरे जॉन की जेब में रोज़ का एक चित्र मिला था। फ़िल्म-एक्ट्रेस का चित्र किसी की भी जेब में हो सकता है और इसी बिना पर अन्त में रोज़ पर केस चलाया भी नहीं गया; लेकिन तीन महीने तक सुबह और शाम पुलीस

वाले उसीकी पी और खाकर उसीकी सेज पर उसकी काया का कचरा करते रहे। और वह विवश थी यह सब करने-कराने को। क्या यह दण्ड नहीं ? क्या यह मृत्यु-दण्ड से कम है ? जब पुलीस ने उसे छोड़ा उसके तन में लहू की एक बूंद नहीं थी और न थे कफ़न के लिये दाम। कहाँ सिनेमा की हिरोइन का जीवन—आभूषण, विविध भोजन, मोटर, आशिक़, ऐश-आराम और कहाँ फ़ारस रोड की एक गली में बरसों तक रुपया-अधेली मात्र में (देह-यापन के लिये) देह का सौदा (समापन)। बावर्चिन बनने के पहले अर्से तक वह वेश्या बाजार में भी नरक भोग चुकी थी; पर, वह जो भोग भोगती उसे नरक मानती नहीं थी। बक़ौल तुलसीदास जी "भूल्यो सूल-करम-कोल्हुन तिल ज्यों वह बारनि पेर्‌यौ।"

: ३७ :

उपन्यास जगरूप के साथ ही समाप्त माना जाय। लेकिन लीलाधर कत्थक और नन्दकुमार नन्दन अभी हैं और तगड़े-तन्दुरुस्त हैं। दोनों ही बनारस में हैं जिसे अब वाराणसी कहा जाता है। नन्दकुमार काशी के एक तृतीय श्रेणी के दैनिक पत्र का वैतनिक संपादक है तथा लीलाधर 'नटराज' नामक संस्था का संस्थापक और संचालक है जिसमें नाचना, गाना और बजाना पिछले कई वर्षों से बड़ी सफलता से सिखलाया जाता है। संस्था में फ़िलहाल तीन-सौ तरुण-तरुणियाँ और बाल-बालिकाएँ विविध कलाओं की विविध शिक्षा पा रही हैं। जब से स्थापित हुई तभी से संस्था दिन-दूनी-रात-चौगुनी उन्नति कर रही है। 'नटराज' की अपनी बिल्डिंग है—काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पीछे-फ़ण्ड है तगड़ा—सेन्टर बैंक में। अभी गत ही वर्ष तो लीलाधर को

भारत सरकार ने 'पद्म-भूषण' से भूषित किया था। उसी सिलसिले में 'नटराज' में एक अभिनन्दन समारोह हुआ था उसी संस्था से निकलने-वाले 'नटराज' नामक सिनेमा-पत्र की प्रथम वर्ष गाँठ पर जिसमें, काशी के चुनिन्दा नागरिकों के साथ ही इन पंक्तियों का लेखक तथा पत्रकार नन्दकुमार नन्दन, भी आमन्त्रित थे। नन्दकुमार ही का पत्र एकमात्र ऐसा दैनिक है जिसमें फ़िल्मों की खासी खरी आलोचना होती है। फलतः उसे फ़िल्मों के विज्ञापन भी नहीं के बराबर मिलते हैं। इससे पत्र को काफ़ी नुक़सान हो रहा है, पत्र-स्वामी ने अनेक बार नन्दकुमार से—सविनय—इस पालिसी का त्याग करने का अनुरोध भी किया; पर, नन्दकुमार अपने निश्चय पर दृढ़—बराबर त्याग-पत्र जेब में लिए दफ़्तर जानेवाला। लीलाधर से उसका परिचय है; पर, नन्दकुमार की नजरों में लीलाधर श्रेष्ठ मानव नहीं है—"कलाकार कितना भी श्रेष्ठ हो यदि वह श्रेष्ठ मानव नहीं है, तो शायद ही रसज्ञ उसकी कला में वह रस पावें जेहि बस होत सुजान।" उसने कभी अपने दैनिक में लिखा था—"असिल में श्रेष्ठ कलाकार बिना श्रेष्ठ मानव हुए कोई हो ही नहीं सकता। मुझे खेद से कहना पड़ता है, सामने शिकायतों की फ़ाइल रखी हुई है, काशी का एक तथाकथित श्रेष्ठ कलाकार स्वयं को श्रेष्ठ रखने के लिए अपनी संस्था की सुन्दरियों को बहाने-बे-बहाने मनचले सत्ताधिकारियों की आँखों में जँचाता रहता है। अगर ऐसी बात है, तो निहायत बुरी बात है। समाज का फ़र्ज़ होना चाहिए—और फ़र्ज़ भी पाक—ऐसे अधम कलाकारों से बेचारी, भोली युवतियों की रक्षा करना। और अगर हमारी फ़ाईल के सारे कागज़ात ग़लत हैं, कलाकार ग़ैर-ज़िम्मेदार, 'पिंप' नहीं हैं, तो मेरा आग्रह यह है कि ऐसी संस्थाएँ जिनमें ऐसी कोमल कलाएँ सिखलाई जाती हों बहुत ही जागरूक रूप से युवतियों और समाज के कल्याण का ध्यान रखें। बदनामी का मौक़ा कभी न आने दें। क्योंकि संस्कृत की एक सूक्ति है—अतथ्य हो या तथ्य

जनरव से जनता में मान घट जाता है।"

नन्दकुमार की उक्त टिप्पणी का अर्थ सारी वाराणसी ने एक ही लगाया कि लीलाधर कत्थक के 'नटराज' पर उसका आक्रोश है। तबतक लीलाधर हो गया 'पद्म-भूषण' और उसके विरोधियों की ज़ुबान पर हमेशा के लिए सरकारी-मुहर-जैसी लग गयी। 'नटराज' के अभिनन्दन-जलसे में नन्दकुमार को लीलाधर ने विशेषतः आमन्त्रित किया था--कि वह देखे कि जिसके बारे में उसका पत्र क्या-क्या बकता रहता है उसकी इज़्ज़त दिल्ली में कितनी है। वह नन्दकुमार पर यह ज़ाहिर करना चाहता था कि कुत्ते भूकते ही रहते हैं, पर भाग्यवान् का कारवाँ आगे ही बढ़ता जाता है।

सभापति का आसन ग्रहण करने के बाद समारोह का आरम्भ 'पंचशील-नृत्य' से हुआ। उक्त नृत्य पाँच छोटे-छोटे बच्चों ने किया जिनमें एक साढ़े नौ साल की बालिका थी 'क्षिति' नाम की। साथ ही उसी वय के चार बालक थे—जल, पावक, गगन और समीर। यानी पंचतत्त्वों के पुतलों ने पंचशील नृत्य दिखाया। इस प्रथम प्रदर्शन ने ही उपस्थित बनारसियों को विमुग्ध कर दिया। इसके बाद संक्षिप्त भाषण में लीलाधर और उसकी कला की प्रशंसा करने के बाद स्वयं सभापति ने अभिनन्दन-पत्र पढ़ा, जो वाराणसी के कला-रसिकों द्वारा लीलाधर को अर्पित किया गया था।

"वाराणसी के आदरणीय गुण-ग्राहको!" वातावरण से प्रफुल्लित हो लीलाधर ने भाषण शुरू किया: "आपने जो मेरा सम्मान किया है उसे मैं अपना बिलकुल नहीं और कला ही का सम्मान सरासर मानता हूँ। आप ही के बल पर 'नटराज' संस्था और 'नटराज' फ़िल्म साप्ताहिक प्रगति-पथ पर बराबर, सोत्साह और सफलतापूर्वक चल रहे हैं। आज 'नटराज' ने भारत के सामने नृत्य, गीत और नाट्य का जो सरस, सुपुष्ट आदर्श रखा है वह विदित वाराणसी की मर्यादा

के सर्वथा अनुकूल है। इस सबके लिए संस्था उसके सदस्यों तथा अपनी तरफ़ से मैं आपका भूरि-भूरि धन्यवाद करता हूँ और भूयो-भूयो नमाम्यहम।

"पुनि" तुलसीदास ने रामायण के आरम्भ में कहा है—"पुनि खलजन बन्दौं सत भाये, जे बिनुकाज, दाहने बायें।" लेकिन मैं तो तुलसीदास नहीं कि किसी को खल कहूँ। मैं मामूली कलाकार हूँ। मेरा निवेदन ऐसे महाजनों से यह है कि लिखें आप और अपने अख़बार-भर लिखें—लेकिन जो लिखें अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करके लिखें। नृत्य ख़राब, संगीत ख़राब, अभिनय ख़राब, सिनेमा ख़राब, नट ख़राब, नटी ख़राब! मालूम नहीं कितना ख़राब है ऐसों का भेजा जो बिना अपनी तरफ़ देखे ही दुनिया को ख़राब (घोषित) करके रख देते हैं। मैं समझता हूँ ऐसे सम्पादक की—मुझे क्षमा न किया जाय—सूझ-बूझ-बुद्धि अपनी मिसाल आप है। भारत सरकार ने जितने कलाकारों को 'पद्म-श्री' और 'पद्म-भूषण' से अलंकृत किया है उनमें नर्तक हैं, बजाने वाले हैं, तबला वादक हैं, गवैं गायक हैं—पर, मैं बड़ी मिन्नत से दरियाफ़्त करना चाहूँगा कि क्या कोई पत्रकार भी है, जिसे 'पद्म-श्री' या 'पद्म-भूषण' बनाया गया है? होगा कोई—भारत सरकार अलंकार-दान में उदार है—पर, मेरी नजरों आने को उसका शुभ नाम अभी बाकी है।

"सिनेमा अशुभ है, एक्टर-एक्ट्रेसें समाज पर बुरा प्रभाव डालती हैं, यह सब जो लोग कहते हैं, झूठ कहते हैं। दर्जनों चरित्रवान् एक्टरों को मैं जानता हूँ, जो प्राइवेट लाइफ़ में किसी भी सम्पादक या समाज-सुधारक से, किसी तरह भी, मन्द नहीं हैं। संक्षेप में कोई भी वस्तु स्वयं बुरी नहीं होती। बुरी या भली देखनेवाले की दृष्टि होती है। तभी तो दिव्य कवि ने रेकार्ड किया है कि 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी'। अन्त में मैं आग्रह करूँगा 'संग्राम' के प्रधान

सम्पादक पं० नन्दकुमारजी 'नन्दन' से कि काशी के चुने-चिने लोगों के सामने अपने सिनेमा या कला-विरोधी विचार आये दिन जो 'संग्राम' में छापते रहते हैं रखने का सत्साहस दिखावें। और भरी सभा में से अपने पक्ष के पाँच प्राणी भी पायें। साथ ही जनता से मेरा आग्रह यह है कि—वादे-वादे-वादे तत्व बोध होता है। हम शान्ति से सम्पादकजी के तर्क भी सुनें। और फिर स्वयं निर्णय करें। कोई जाये नहीं—कृपाकर। नन्दकुमारजी के भाषण के बाद ही सेवा में ताण्डव-नृत्य उपस्थित किया जायगा।"

नन्दकुमार जब मंच की तरफ़ बढ़ा तब काशी-वासियों ने उसके प्रति भी आदर और अनुराग पुष्कल प्रकट किया।

"अब आनन्द आयेगा" उपस्थित में से एक ने बगलवाले से कहा "नन्दकुमार पत्रकार तो परम श्रेष्ठ है ही वक्ता भी ओजस्वी और सरस है।"

"दोनों ही सिनेमा-लाइन में रह चुके हैं।"

"नन्दकुमार फ़िल्म संसार का विशेष अनुभवी है यानी कटु-अनुभवी।"

"आदरणीय सभापति महोदय, लीलाधरजी और उपस्थित काशी-वासियो !" नन्दकुमार ने भाषण आरम्भ करने के पूर्व चश्मे उतार दुपट्टे के कोने से पोंछा और उन्हें पुनः चेहरे पर धारण किया—"पहले तो मैं लीलाधरजी भाई को सरकार द्वारा 'पद्म-भूषण' से अलंकृत किए जाने पर हृदय से बधाई देता हूँ। सिनेमा के बारे में दो रायें हों, नाच, गान, वाद्य के बारे दो रायें हों, पर, इसमें दो रायें खिलाल में संभव नहीं कि हमारे लीलाधरजी अद्वितीय कलाकार हैं। लीलाधरजी से काशी का गौरव है। 'पद्म-भूषण' तो आप कल बने हैं लेकिन काशी-भूषण पिछले पचास वर्षों से यानी आधी शती से हैं।

"सज्जनो !" आब जैसे वक्ता के भावों का अंजन उस पावर तक

पहुँच गया जहाँ से गति तीव्र-से-तीव्रतर हो जाती है—"मैं जब 'नटराज' के लिए घर से रवाना हुआ उसके पहरों पूर्व सोच चुका था कि लीलाधरजी मुझे भी बोलने को विवश किए बग़ैर रहेंगे नहीं। अतः मैं तैयार होकर घर से चला। यह जो अटैची लेकर मैं यहाँ आया हूँ इसमें बम का शेल नहीं—फ़िल्म सम्बन्धी साहित्य है, कतरनें हैं और लीलाधरजी द्वारा सम्पादित साप्ताहिक 'नटराज' के कतिपय अंक हैं। इस सबका उपयोग कर यदि मैं फ़िल्मों के विरुद्ध सुविज्ञों के कोर्ट में केस प्लीड करना आरम्भ करूँ तो भय है—वक़्त बहुत लग जाएगा। और आप ऊब जायेंगे, इसलिए संक्षेप-से-संक्षेप में निवेदन करूँगा।

"कला-रसिको! मुझे जो कुछ कहना है वह तो बाद में कहूँगा, पहले मैं प्रोफ़ेसर असितबरन बोस द्वारा किए गए रिसर्च की चर्चा करना चाहता हूँ। प्रोफ़ेसर महाशय लखनऊ विश्वविद्यालय के समाज-विज्ञान और समाज-सेवा के असिस्टेन्ट प्राध्यापक हैं। असितबरन बाबू ने साठ हिन्दी फ़िल्मों की सूक्ष्म जाँचकर जो निष्कर्ष निकाला है वह महा ज्ञानवर्द्धक, महा मनोरंजक है। उनकी रिपोर्ट में केवल सिनेमा के विषय-वस्तु पर विचार किया गया है। सिनेमा उद्योग पर नहीं; प्रेक्षकों पर या उनकी रुचि और उम्मीदों पर नहीं; विविध प्रेक्षकों पर फ़िल्मों का कैसा प्रभाव पड़ता है इसका भी नहीं। प्रोफ़ेसर साहब के मतानुसार उक्त विषय अलग-अलग शोध के विषय हैं।

"सो, असितबरनजी के चुने साठ चित्रों में साठ की चौथाई १५ फ़िल्में अपराध सम्बन्धिनी; १३·३ फ़ी-सदी से कुछ ज़ियादा साहसिक कामों और रियासती चालबाज़ियों की; १० फ़ी-सदी सामाजिक-चित्र; ८·३ फ़ी-सदी पौराणिक तथा भक्ति-भाव सम्बन्धी; ६·७ फ़ी-सदी ऐतिहासिक; इतनी ही संख्या प्रेम, परिवार और परिहास के पिक्चरों की और बाक़ी विविध विषयों की।

"बस ! असितरंजन महाशय की चर्चा इतनी ही इसलिये कि विचारवान लोग विचारें कि भारतीय फ़िल्मों में अपराध-संबन्धी-चित्रों की भरमार क्यों है ? भक्ति-भाव ज्ञान के चित्र सौ में दस लेकिन अपराध की फ़िल्में सौ में पचीस क्यों बनायी जाती हैं ? क्या इस देश की संस्कृति अपराध-प्रधान है ? प्रमाणित किया जा सकता है ? या देश या संस्कृति के प्रति फ़िल्म-उद्योग जिम्मेवार होने के लिये विवश नहीं है ? यह मेरी दृढ़ राय है कि जो भी अख़बार फ़िल्मों के विज्ञापन छापते हैं : अपराध-प्रचार में सहायक बनते हैं। यह सब क्यों किया जा रहा है ? पैसे के लिये। पैसा किसे कहाँ ले जायगा, कोई कहेगा ? मैं कहता हूँ दुष्ट फ़िल्मों का प्रचार रोकने का पहला उपाय है पत्रों में विज्ञापन छपना क़तई बन्द होना। फ़िल्म उद्योगवाले जैसे जहाँ चाहें अपना विज्ञापन कर लें। जर्नल और जर्नलिस्ट की पहली और अन्तिम ज़िम्मेदारी जनता के सिवा और किसी के प्रति नहीं होती। मैं तो ऐसा ही मानता हूँ। और मेरा पेपर घाटे में निकलता है और मैं हूँ कि न 'पद्मश्री', न 'पद्म-भूषण'। तो जर्नलिस्ट न तो नक़्क़ाल के साथ, न नचनियों के न तबलिये के। हमारे पेशे में सेवा का फल सेवा और पुनः सेवा ही है— अक्सर मेवा बिलकुल वर्जित। पर, 'नटराज' जैसे पत्र तो (मुझे माफ़ न किया जाय) मनचलों और फ़िल्म-स्टारों के बीच 'गो बिट्वीन' यानी टाल का काम अंजाम देते हैं। वे ग़ैर-ज़िम्मेदार अख़बारवाले बीबियों का पता बाबुओं को और बाबुओं का ठिकाना बीबियों को बतलाते रहते हैं। यही इनकी विवश अधम कमाई है। भाई रे ! दोहाई है ! दोहाई है !! साप्ताहिक 'नटराज' की ग़ैर-ज़िम्मेदारी का एक उदाहरण—१६ जनवरी वाले अंक में नहाने की पोशाक में किसी अमरीकी नटी का अर्ध-नग्न-चित्र छापकर नीचे लिखा गया है —'गोली चिकनी रान; जियरा हैरान !' एक नटी के चित्र के नीचे लिखा है—'किस' की मिस ? एक सुलोचना के क्लोज़अप के नीचे है—

'कोई मुँह चूम लेगा इस नहीं पर।' मैं पूछता हूँ यह सब क्या है ? ज़िम्मेदारी ? पत्रकारिता ? झखमारी ?...।"

इसी समय, बिना सूचना, बड़े नाटकीय ढंग से प्रलयंकर शंकर का रूप धरे, दोनों हाथों में जलते नर-कपाल लिये लीलाधर पीछे से आगे आया और आते ही उसने ताण्डव-नृत्य करना आरंभ कर दिया।*

(बस)

*'फागुन के दिन चार' में आये पात्र-पात्रियों और संस्थाओं के नाम काल्पनिक हैं। किसी भी व्यक्ति या संस्था के नाम से इन नामों का कोई सरोकार नहीं।